अध्यात्म प्रवचन

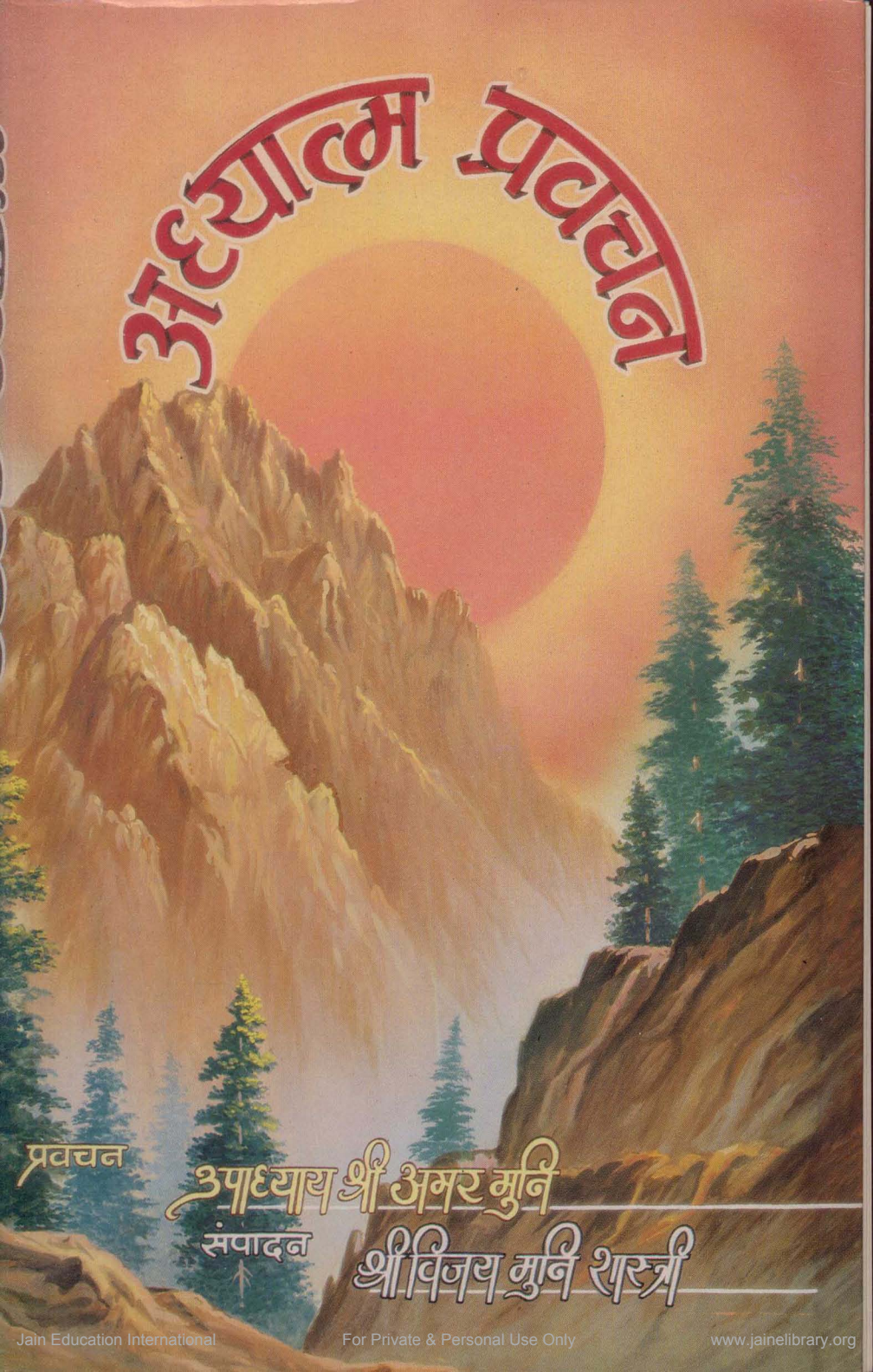

प्रवचन
उपाध्याय श्री अमर मुनि

संपादन
श्री विजय मुनि शास्त्री

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्यात्म-प्रवचन

(तृतीय भाग)

प्रवचन :
उपाध्याय अमर मुनि

सम्पादन :
शास्त्री विजय मुनि

प्रकाशक :
सन्मति-ज्ञानपीठ : आगरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

✱ पुस्तक
अध्यात्म-प्रवचन
(तृतीय भाग)

✱ विषय
अध्यात्म :
१. तत्त्व-मीमांसा
२. कर्म-मीमांसा

✱ प्रवचन
उपाध्याय अमर मुनि

✱ सम्पादन
शास्त्री विजय मुनि

✱ प्रकाशन
सन्मति ज्ञान-पीठ
जैन भवन, लोहामण्डी
आगरा—२८२००२

✱ मुद्रण-सज्जा
राजेश सुराना, द्वारा
दिवाकर प्रकाशन, ए-७ अवागढ़ हाउस
एम. जी. रोड, आगरा-२८२००२

✱ मूल्य
पच्चीस रुपया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यत् किंचित् कथनम्

शुभ कार्य का प्रारम्भ और उसकी परिसमाप्ति, और वह भी निर्विघ्न हो जाए, तो उसे सद् भाग्य समझना चाहिए। क्योंकि शुभ कार्य में विघ्नों की परम्परा का आ जाना, कार्य को पूरा कर सकना, सहज तथा सरल नहीं है। भारत को प्राचीन परम्परा रही है, कि किसी भी शुभ कर्म को प्रारम्भ करने से पूर्व मंगलाचरण किया जाता है। वह वाचिक भी हो सकता है, और मानसिक भी। अतः भारत में मंगलाचरण की पुरातन परम्परा रही है। यह भी देखा जाता है, कि मंगलाचरण करने पर भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। उसका समाधान यह किया जाता है, विघ्न-बाहुल्य था, उतनी अधिक मात्रा में मंगलाचरण नहीं किया गया।

अध्यात्म प्रवचन के तृतीय भाग के सम्पादन करने के पूर्व ही मैं अस्वस्थ हो गया। अस्वस्थता लम्बी और काफी कष्ट-दायिनी थी। कष्ट के क्षणों में भी मेरा संकल्प कार्य को पूरा करने का बना रहा, उसमें शैथिल्य नहीं आने दिया। मनुष्य के संकल्प में महान् बल होता है। अपनी संकल्प शक्ति के द्वारा मैं तो शीघ्र स्वस्थ हो गया, जो कि डॉक्टरों की आशा के विपरीत था। गुरु कृपा से स्वस्थ होकर अपने अधूरे कार्य को पूरा करने में, मैं फलवान् रहा। आज मुझे परम प्रसन्नता है, कि मेरा संकल्प पूरा हुआ।

पूज्य गुरुदेव का सन् १९६० का वर्षावास कलकत्ता में था। वहाँ के श्रीसंघ ने इन प्रवचनों को लिपि-बद्ध कराया था। ये प्रवचन तीन भागों में प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम दर्शन-मीमांसा, द्वितीय ज्ञान-मीमांसा एवं आचार-मीमांसा, तृतीय तत्त्व-मीमांसा, कर्म-मीमांसा और अध्यात्मवाद।

तृतीय भाग में, गुरु का गुरु-गम्भीर विषय है, भारतीय दर्शनों में तथा पाश्चात्य दर्शनों में तत्त्व विचार। पूर्व के दो भागों की अपेक्षा इसमें विचार की गम्भीरता अधिक है। पूज्य गुरुदेव स्वभावतः गम्भीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दार्शनिक तथा प्रखर तार्किक रहे हैं। पाठकों को इस सत्य अनुभूति का साक्षात्कार स्वतः अध्ययन से हो सकेगा। अतः इस विषय में अधिक लिखना, अर्थ-हीन होगा। शर्करा मधु है, कि कटु ? इस तथ्य का परिज्ञान वाणी से नहीं, रसना पर रखने से होगा।

जैन परम्परा के महान् वाचक उमास्वाति की शाश्वत कृति तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र पर वस्तुतः ये प्रवचन विस्तृत भाष्य हैं, जिनमें मोक्ष-तत्त्व के साधन भूत दर्शन, ज्ञान और चारित्र की व्याख्या की है। वीतराग भाषित तत्त्वों पर जो श्रद्धान होता है, वह दर्शन है। तत्त्वों का जो यथार्थ परिबोध होता है, वह ज्ञान है। श्रद्धा और ज्ञान के अनुसार तत्त्वों का जो आचरण है, वह चारित्र है। बौद्ध परम्परा की परिभाषा में इन तीनों को शील, समाधि और प्रज्ञा कहा गया है। वैदिक भाषा में कर्म-योग, ज्ञानयोग और भक्तियोग कहा जाता है। इन समस्त प्रवचनों में समन्वय तथा तुलनात्मक दृष्टि मुख्य है, जो गुरुदेव की अपनी एक खास विशेषता रही है, अपनी अलग पहचान है।

विजय मुनि

महावीर जयन्ती
१५ अप्रेल, १९९२
सन्मति ज्ञानपीठ
जैन भवन, लोहामण्डी
आगरा,

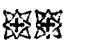

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

सन्मति ज्ञानपीठ से प्रकाशित उपाध्याय श्रद्धेय कवि श्री अमर मुनि जी महाराज का साहित्य सम्पूर्ण जैन समाज में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। साहित्य की विविध विधाओं जैसे निबन्ध, कहानी, गद्य, पद्य, गीत, कथा संस्मरण, समीक्षा आदि पर आपने सफलतापूर्वक लेखनी चलाई है। आपका प्रवचन साहित्य बहुत ही प्रभावक एवं सुन्दर रहा है? आपके साहित्य को जैन अजैन आदि ने बहुत ही पसन्द किया है।

उपाध्याय श्रीजी महाराज के साहित्य को पढ़कर अनेक पाठक उनके उपासक व प्रशंसक हो गये हैं, क्योंकि आपका साहित्य समाज के लिए बहुत ही उपयोगी रहा है।

इधर उपाध्याय श्रीजी महाराज के निरन्तर अस्वस्थ रहने के कारण संस्था से नवीन प्रकाशन नहीं हो पा रहे हैं। परन्तु श्रद्धालु पाठकों की निरन्तर साहित्य की मांग को देखते हुए कुछ प्राचीन प्रकाशनों को पुनः प्रकाशित कराने का कार्य हाथ में लिया है। नूतन प्रकाशन प्रारम्भ करने से पूर्व प्राचीन प्रकाशनों के नवीन संस्करण ही प्रकाशित किये जा रहे हैं।

पूज्य गुरुदेव राजगृह में विराजमान है। उनकी वृद्ध अवस्था तो है ही, साथ में उनका स्वास्थ्य भी अनुकूल नहीं रहता है। यही स्थिति नवीन प्रकाशनों के कार्य में बाधक है। परन्तु आपके साहित्य की मांग समाज में निरन्तर बढ़ती जा रही है।

ऐसी स्थिति में पण्डित प्रवर पूज्य श्री विजय मुनि जो महाराज से इस दिशा में कार्य के लिए प्रार्थना की गई। प्रार्थना को स्वीकार करते हुए उन्होंने अध्यात्म प्रवचन का पहला भाग तथा दूसरा भाग तैयार कराकर प्रकाशित करा दिया है। इनमें दो विषय हैं ज्ञान-मीमांसा और आचार-मीमांसा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाठकों को यह तीसरा भाग तत्त्व मीमांसा प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। पण्डित श्री विजय मुनिजी म० ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए अध्यात्म-प्रबचन के इस तृतीय भाग को परिवर्धन करके एवं सम्पादन करके प्रकाशित कराया है। आपने पूज्य गुरुदेव के इस पुनीत-कार्य को आगे बढ़ाया है तथा पाठकों एवं समाज के प्रति एक महत्वपूर्ण कार्य को पूर्ण करके एक बहुत बड़ी कमी को पूरा किया है।

इसके अतिरिक्त आपने अमर भारती नामक पुस्तक में भी संशोधन परिवर्द्धन किया है और वह पुस्तक भी पुनः प्रकाशित हुई है।

पुस्तक का मुद्रण, साज-सज्जा आदि प्रसिद्ध लेखक श्री श्रीचन्द जी सुराणा के द्वारा हुआ है, इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

ओमप्रकाश जैन
मन्त्री
सन्मति ज्ञानपीठ
आगरा

३१-३-९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-संकलन

१	भारतीय दर्शन के सामान्य सिद्धान्त	१
२	जैन दर्शन की तत्त्व मीमांसा	१७
३	जैन दर्शन की कर्म तत्त्व मीमांसा	४७
४	जैन दर्शन का अध्यात्मवाद	६५
५	भारतीय दर्शन के विशेष सिद्धान्त	७९
६	पाश्चात्य दर्शन की पृष्ठभूमि	१२३
७	अन्तर् भावनाओं का लेश्याओं के रूप में चित्रण	१६३
८	पारिभाषिक टिप्पण	१७५

卐卐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहायक ग्रन्थ

१.	भारतीय दर्शन	: वाचस्पति गैरोला
२.	भारतीय दर्शन	: डॉ. यदुनाथ सिन्हा
३.	भारतीय दर्शन	: दत्त एवं चटर्जी
४.	पाश्चात्य दर्शन दर्पण	: डॉ. कपूर
५.	तत्त्व-ज्ञान	: डॉ. दीवान चन्द
६.	पाश्चात्य दर्शन	: चन्द्रधर शर्मा
७.	भारतीय तत्त्व विद्या	: पं. सुखलाल जी
८.	आगम युग का जैन दर्शन	: पं. दलसुख भाई जी
९.	जैन दर्शन	: डॉ. मोहनलाल मेहता
१०.	तत्त्वार्थ सूत्र	: पण्डित सुखलाल जी
११.	कर्म ग्रन्थ	: प्रथम भाग
१२.	अमर भारती	: मासिक पत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शन
के
सामान्य-सिद्धान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शनों में जिन तथ्यों का निरूपण किया गया है, उन सबका जीवन के साथ निकट का सम्बन्ध रहा है। भारतीय-दार्शनिकों ने मानव-जीवन के समक्ष ऊँचे से ऊँचे आदर्श प्रस्तुत किए हैं। वे आदर्श केवल आदर्श ही नहीं रहते, उन्हें जीवन में उतारने का प्रयत्न भी किया जाता है। इसके लिए विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न प्रकार की साधनाओं का भी प्रतिपादन किया है। ये साधन तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञान-योग, कर्म-योग और भक्ति-योग।

जैन-दर्शन में इन्हीं को रत्न-त्रय, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र कहा जाता है।

बौद्ध-दर्शन में इन्हें प्रज्ञा, शील और समाधि कहा गया है। इन तीनों की साधना से प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में उच्च से उच्चतर एवं उच्चतम आदर्शों को भी प्राप्त कर सकता। दर्शन का सम्बन्ध केवल बुद्धि से ही नहीं है, बल्कि हृदय और क्रिया से भी उसका सम्बन्ध है। यही कारण है, कि भारतीय-दर्शन की परम्परा के प्रत्येक दार्शनिक-सम्प्रदाय ने श्रद्धान, ज्ञान और आचारण पर बल दिया है। अतः वह जीवन का वास्तविक अर्थ में दर्शन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शन के सामान्य-सिद्धान्त

आध्यात्मिक पृष्ठभूमि :

भारतीय दर्शन फिर भले ही वह किसी भी सम्प्रदाय का क्यों न रहा हो, उसका मूल स्वर अध्यात्मवाद रहा है। भारत का एक भी इस प्रकार का कोई सम्प्रदाय नहीं है, जिसके दर्शन-शास्त्र में आत्मा, ईश्वर और जगत के सम्बन्ध में विचारणा न की गई हो। आत्मा का स्वरूप क्या है ? ईश्वर का स्वरूप क्या है ? और जगत की व्यवस्था किस प्रकार होती है ? इन विषयों पर भारत की प्रत्येक दर्शन-परम्परा ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। जब आत्मा की विचारणा होती है, तब स्वाभाविक रूप से ईश्वर की विचारणा हो ही जाती है। इन दोनों की विचारणा के साथ जगत की विचारणा भी आवश्यक हो जाती है। दर्शन-शास्त्र के ये तीन ही विषय मुख्य माने गए हैं। आत्मा चेतन है, दर्शन उसका स्वभाव है, इस सत्य को सभी ने स्वीकार किया है। उसकी अमरता के सम्बन्ध में भी किसी को सन्देह नहीं है। भारतीय दर्शनों में एकमात्र चार्वाक दर्शन ही इस प्रकार का है, जो आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानता। वह आत्मा को भौतिक मानता है, अभौतिक नहीं। जबकि अन्य समस्त दार्शनिक आत्मा को एक स्वर से अभौतिक स्वीकार करते हैं। आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में और उसकी अमरता के सम्बन्ध में किसी भी भारतीय-दार्शनिक-परम्परा को संशय नहीं रहा है। आत्मा के स्वरूप और लक्षण के सम्बन्ध में तथा संख्या के सम्बन्ध में भेद रहा है, पर उसके अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रहा। ईश्वर के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है, कि किसी न किसी रूप में सभी दार्शनिकों ने उसके अस्तित्त्व को स्वीकार किया है, परन्तु ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में और लक्षण के सम्बन्ध में पर्याप्त मत-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेद रहा है। जगत के अस्तित्व के सम्बन्ध में किसी भी दर्शन-परम्परा को सन्देह नहीं रहा। चार्वाक भी जगत के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अन्य सभी दर्शन-परम्पराओं ने जगत के अस्तित्व को स्वीकार किया है और उसकी उत्पत्ति एवं रचना के सम्बन्ध में अपनी-अपनी पद्धति से विचार किया है। किसी ने उसका आदि और अन्त स्वीकार किया है और किसी ने उसे अनादि और अनन्त माना है।

दर्शन-शास्त्र सम्पूर्ण सत्ता के विषय में कोई धारणा बनाने का प्रयत्न करता है। उसका उद्देश्य विश्व को समझना है। सत्ता का स्वरूप क्या है? प्रकृति क्या है? आत्मा क्या है? और ईश्वर क्या है? दर्शन-शास्त्र इन जिज्ञासाओं का समाधान करने का प्रयत्न है। दर्शन-शास्त्र में यह भी समझने का प्रयत्न किया जाता है, कि मानव-जीवन का प्रयोजन और उसका मूल्य क्या है? तथा जगत के साथ उसका क्या सम्बन्ध है? इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है, कि दर्शन-शास्त्र का निर्माण मनुष्य के विचार और अनुभव के आधार पर होता है। तर्क-निष्ठ विचार दर्शन का साधन रहा है। दर्शन तर्क-निष्ठ विचार के द्वारा सत्ता के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। पाश्चात्य-दर्शन में सैद्धान्तिक प्रयोजन की प्रधानता रहती है। वह स्वतन्त्र चिन्तन पर आधारित है, और आप्त-प्रमाण की उपेक्षा करता है। नीति और धर्म की व्यावहारिक बातों से वह प्रेरणा नहीं लेता, जबकि भारतीय दर्शन आध्यात्मिक-चिन्तन से प्रेरणा पाता है। वास्तव में भारतीय-दर्शन एक आध्यात्मिक-शोध एवं खोज है। भारतीय-दर्शन सत्ता के स्वरूप की जो खोज करता है, उसके पीछे उसका उद्देश्य मानव-जीवन के चरम साध्य मोक्ष को प्राप्त करना है। सत्ता के स्वरूप का ज्ञान इसलिए आवश्यक है, कि वह निःश्रेयस एवं परम-साध्य को प्राप्त करने का एक साधन है। इसी आधार पर यह कहा जाता है, कि भारतीय-दर्शन अपने मूल स्वरूप में एक आध्यात्मिक दर्शन है, भौतिक-दर्शन नहीं। यद्यपि भारतीय दर्शन में भौतिकता की व्याख्या की गई है, फिर भी उसका मूल स्वभाव आध्यात्मिकता ही रहा है। इसका सर्वप्रथम प्रमाण तो यह है, कि भारत में धर्म और दर्शन को परस्पर एक दूसरे पर आश्रित माना गया है। परन्तु धर्म का अर्थ अन्ध-विश्वास नहीं, बल्कि तर्क-पूर्ण अनुभव माना गया है। भारतीय परम्परा के अनुसार धर्म आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करने का एक व्यावहारिक उपाय एवं साधन है। दर्शन-शास्त्र सत्ता की मीमांसा करता है, और उसके स्वरूप को विचार के द्वारा पकड़ता है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्पष्ट है, कि भारतीय दर्शन एक बौद्धिक विकास नहीं है, बल्कि वह एक आध्यात्मिक खोज है। भारतीय दर्शन चिन्तन एवं मनन के आधार पर प्रतिष्ठित है, लेकिन उसमें चिन्तन एवं मनन का स्थान आगम, पिटक और वेदों की अपेक्षा गौण है। भारतीय दर्शन की प्रत्येक परम्परा आप्त-वचन अथवा शब्द-प्रमाण पर अधिक आधारित रही है। जैन अपने आगम पर अधिक विश्वास करते हैं, बौद्ध अपने पिटक पर अधिक श्रद्धा रखते हैं, और वैदिक परम्परा के सभी सम्प्रदाय वेदों के वचनों पर ही एकमात्र आधार रखते हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन में प्रत्यक्ष अनुभूति की अपेक्षा परोक्ष अनुभूति पर अधिक बल दिया गया है।

भारत के दार्शनिक सम्प्रदाय :

भारत के दार्शनिक सम्प्रदायों को अनेक विभागों में विभाजित किया जा सकता है। भारतीय विद्वानों ने भी उनका वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया है। आचार्य हरिभद्र ने अपने "षड्दर्शनसमुच्चय" में, आचार्य माधव के "सर्व दर्शन संग्रह" में, आचार्य शंकर के "सर्व सिद्धान्त संग्रह" आदि में दर्शनों का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है। पाश्चात्य-दर्शन-परम्परा के दार्शनिकों ने वर्गीकरण की जो पद्धति स्वीकार की है, वह भी एक प्रकार की न होकर अनेक प्रकार की है। सबसे अधिक प्रचलित पद्धति यह है, कि भारतीय दर्शन को दो भागों में विभाजित किया जाता है—आस्तिक दर्शन और नास्तिक दर्शन। आस्तिक दर्शन इस प्रकार हैं—सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त। नास्तिक दर्शन इस प्रकार हैं—चार्वाक, जैन और बौद्ध। परन्तु यह पद्धति न तर्कपूर्ण है और न समीचीन। वैदिक-दर्शनों को आस्तिक कहने का क्या आधार रहा है, यह स्पष्ट नहीं, और नास्तिक दर्शनों को नास्तिक कहने का क्या आधार रहा है? इसका एकमात्र आधार शायद यही रहा है, कि वे वेद-वचनों में विश्वास नहीं करते। यदि वेद वचनों में विश्वास न करने के आधार पर ही चार्वाक जैन और बौद्धों को नास्तिक कहा जाता है, तब यही मानना चाहिए, कि जो व्यक्ति चार्वाक ग्रन्थों में, जैन-आगमों में और बौद्ध-पिटकों में विश्वास नहीं करते, वे भी नास्तिक ही हैं। इस प्रकार भारत का कोई भी दर्शन आस्तिक नहीं रहेगा। यदि यह कहा जाए, कि जो ईश्वर को स्वीकार नहीं करता, वह नास्तिक है, इस दृष्टि से चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक कहे जाते हैं, तब इसका अर्थ यह होगा, कि सांख्य और योग तथा वैशेषिक दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी नास्तिक परम्परा में ही परिगणित होंगे। क्योंकि ये भी ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। वेदों का सबसे प्रबल समर्थक मीमांसा-दर्शन भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, तब वह भी नास्तिक कहा जाएगा। अतः आस्तिक और नास्तिक के आधार पर भारतीय-दर्शनों का विभाग करना, यह एक भ्रम—परिपूर्ण धारणा है। वास्तव में भारतीय दर्शनों का विभाग दो रूपों में होना चाहिए—वैदिक-दर्शन और अवैदिक दर्शन। वैदिक-दर्शनों में षड्-दर्शनों की परिगणना हो जाती है, और अवैदिक दर्शनों में चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन आ जाते हैं। इस प्रकार भारतीय दर्शन-परम्परा में मूल में नव दर्शन होते हैं—चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त। ये नव दर्शन भारत के मूल दर्शन हैं। कुछ विद्वानों ने यह भी कहा है, कि अवैदिक दर्शन भी षड् हैं—जैसे चार्वाक, जैन, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। इस प्रकार वेदान्त-परम्परा के दर्शन भी छह हैं, और अवैदिक दर्शन भी छह होते हैं। इस प्रकार भारत के मूल दर्शन द्वादश हो जाते हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में कुछ सैद्धान्तिक भेद होते हुए भी प्रकृति, आत्मा और ईश्वर के विषय में दोनों के मत समान हैं। कालक्रम से इनका एक ही भाव हो गया, और अब इनका सम्प्रदाय न्याय-वैशेषिक कहा जाता है। सांख्य और योग की भी प्रकृति और पुरुष के विषय में एक ही धारणा है, यद्यपि सांख्य निरीश्वरवादी है, और योग ईश्वरवादी है। अतः कभी-कभी इनको एक साथ सांख्य-योग कह दिया जाता है। मीमांसा के दो सम्प्रदाय हैं, जिनमें से एक के प्रवर्तक आचार्य कुमारिल भट्ट हैं, और दूसरे के आचार्य प्रभाकर। इनको क्रम से भट्ट सम्प्रदाय और प्रभाकर सम्प्रदाय कहा जाता है। वेदान्त के भी दो मुख्य सम्प्रदाय हैं, जिनमें से एक के प्रवर्तक आचार्य शंकर हैं, और दूसरे के आचार्य रामानुज। शंकर का सिद्धान्त अद्वैतवाद अथवा केवलाद्वैतवाद के नाम से विख्यात है, और रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद के नाम से। वेदान्त के कुछ अन्य छोटे-छोटे सम्प्रदाय भी हैं, उन सभी का समावेश भक्तिवादी दर्शन में किया जा सकता है। अतः इस पुस्तक में मुख्य-मुख्य सभी सम्प्रदायों का परिचय संक्षेप में दे दिया है। वेदान्त-परम्परा के दर्शनों में मीमांसा-दर्शन को पूर्व-मीमांसा और वेदान्त-दर्शन को उत्तर-मीमांसा भी कहा जा सकता है। इस प्रकार इन विभागों में वैदिक-परम्परा के सभी सम्प्रदायों का समावेश आसानी के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जा सकता है। बौद्ध-दर्शन परिवर्तनवादी दर्शन रहा है। वह परिवर्तन अथवा अनित्यता में विश्वास करता है, नित्यता को वह सत्य स्वीकार नहीं करता। बौद्धों के अनेक सम्प्रदाय हैं, उनमें से वैभाषिक और सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादी हैं। इन्हें बाह्यार्थवादी भी कहा जाता है। क्योंकि ये दोनों सम्प्रदाय समस्त बाह्य वस्तुओं को सत्य मानते हैं। वैभाषिक बाह्य प्रत्यक्ष-वादी हैं। उसका मत यह है, कि बाह्य वस्तु क्षणिक हैं, और उनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सौत्रान्तिक बाह्यानुमेयवादी हैं। इनका मत यह है, कि बाह्य पदार्थ, जो कि क्षणिक हैं, प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं, बल्कि मन में उनकी जो चेतना उत्पन्न होती है, उससे उनका अनुमान किया जाता है। योगाचार सम्प्रदाय विज्ञानवादी है। इसका मत यह है, कि समस्त बाह्य वस्तु मिथ्या हैं, और चित्त में जो कि विज्ञान सन्तान मात्र है, विज्ञान उत्पन्न होते हैं, जो निरालम्बन हैं। योगाचार मनोविज्ञानवादी है। माध्यमिक सम्प्रदाय का मत यह है, कि न बाह्य वस्तुओं की सत्ता है, और न आन्तरिक विज्ञानों की। ये दोनों ही संवृत्ति-मात्र हैं। तत्त्व निःस्वभाव है, अनिर्वाच्य है और अज्ञेय है। कुछ बौद्ध विद्वान केवल निरपेक्ष चैतन्य को ही सत्य मानते हैं। जैन-दर्शन मूल में द्वैतवादी दर्शन है। वह जीव की सत्ता को भी स्वीकार करता है, और जीव से भिन्न पुद्गल की सत्ता को भी सत्य स्वीकार करता है। जैन-दर्शन ईश्वरवादी दर्शन नहीं हैं। जैनों के चार सम्प्रदाय हैं—श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी और तेरापंथी। इन चारों सम्प्रदायों में मूल तत्त्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं है। तत्त्व सम्बन्धी अथवा दार्शनिक किसी प्रकार का मतभेद इन चारों ही सम्प्रदायों में नहीं रहा, परन्तु आचार-पक्ष को लेकर इन चारों में कुछ विचार भेद रहा है। वास्तव में अहिंसा और अपरिग्रह की व्याख्या में मतभेद होने के कारण ही ये चारों सम्प्रदाय अस्तित्व में आए हैं, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से इनमें आज तक भी किसी प्रकार का भेद नहीं रहा। चार्वाकों में भी अनेक सम्प्रदाय रहे थे—जैसे चार भूतवादी और पांच भूतवादी। इस प्रकार भारत के दार्शनिक सम्प्रदाय अपनी-अपनी पद्धति से भारतीय दर्शन-शास्त्र का विकास करते रहे हैं।

भारतीय दर्शनों के सामान्य सिद्धान्त :

भारतीय दर्शनों के सामान्य सिद्धान्तों में मुख्य रूप में चार हैं—आत्मवाद, कर्मवाद, परलोकवाद और मोक्षवाद। इन चारों विचारों में भारतीय दर्शनों के सभी सामान्य सिद्धान्त समाविष्ट हो जाते हैं। जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मवाद में विश्वास रखता है, उसे कर्मवाद में भी विश्वास रखना ही होगा। और जो कर्मवाद को स्वीकार करता है, उसे परलोकवाद भी स्वीकार करना ही होगा। और जो परलोकवाद को स्वीकार कर लेता है, उसे स्वर्ग और मोक्ष पर भी विश्वास करना ही होता है। इस प्रकार भारतीय दर्शनों के सर्व-सामान्य सिद्धान्त अथवा सर्वमान्य सिद्धान्त ये चार ही रहे हैं। इन चारों के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा विचार नहीं है, जो इन चारों में न आ जाता हो, फिर भी यदि हम प्रमाण-मीमांसा को लें, तो वह भी भारतीय-दर्शन का एक अविभाज्य अंग रही है। प्रत्येक दर्शन की शाखा ने प्रमाण की व्याख्या की है, और उसके भेद एवं उपभेदों की विचारणा की है। फिर आचार-शास्त्र को भी यदि लिया जाए, तो प्रत्येक भारतीय दर्शन की शाखा का अपना एक आचार-शास्त्र रहा है। इस आचार-शास्त्र को हम उस दर्शन का साधना पक्ष भी कह सकते हैं। प्रत्येक दर्शन-परम्परा अपनी पद्धति से अपने द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-ज्ञान को जब जीवन में उतारने का प्रयत्न करती है, तब उसे साधना कहा जाता है। यह साधना-पक्ष भी प्रत्येक भारतीय दर्शन का एक अभिन्न अंग रहा है। दुःख-निवृत्ति और सुख की प्राप्ति, यह भी प्रत्येक दर्शन का अपना एक विशिष्ट ध्येय रहा है। यह स्वाभाविक है, कि मनुष्य को अपने वर्तमान जीवन से असन्तोष हो। जीवन में प्रतीत होने वाले प्रतिकूल भाव, दुःख एवं क्लेशों से व्याकुल होकर मनुष्य उनसे छुटकारा प्राप्त करने की बात सोचे, यह स्वाभाविक है। भारत के प्रत्येक दर्शन ने फिर भले ही वह किसी भी परम्परा का क्यों न रहा हो, वर्तमान जीवन को दुःखमय एवं क्लेशमय माना है। इसका अर्थ यही होता है, कि जीवन में जो कुछ दुःख और क्लेश है, उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाए, क्योंकि दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति प्रत्येक आत्मा का साहजिक अधिकार है। भारत के इस दृष्टिकोण को लेकर पाश्चात्य दार्शनिकों ने उसे निराशावादी अथवा पलायनवादी कहा है। परन्तु उन लोगों का यह कथन न तर्कसंगत है, और न भारतीय-दर्शन की मर्यादा के अनुकूल ही। भारतीय-दर्शनों में त्याग और वैराग्य की जो चर्चा की गई है, उसका अर्थ जीवन से पराङ्मुख बनना नहीं है, बल्कि वर्तमान जीवन के असन्तोष के कारण चित्त में जो एक व्याकुलता रहती है, उसे दूर करने के लिए ही भारतीय-दार्शनिकों ने त्याग और वैराग्य की बात कही है। यह दुःखवादी विचारधारा बौद्ध-दर्शन में अतिरेकवादी बन गयी है। इसे किसी अंश में स्वीकार करना ही होगा। जैन-दर्शन भी इस दुःखवादी परम्परा में सम्मि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लित रहा है। सांख्य-दर्शन में प्रारम्भ में ही इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि तीन प्रकार के दुःख से व्याकुल यह आत्मा सुख और शान्ति की खोज करना चाहता है। इस प्रकार भारतीय-दर्शनों में दुःखवादी विचार-धारा रही है, इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु उसका अर्थ निराशावाद और पलायनवाद नहीं किया जा सकता। एकमात्र सुख का अनुसन्धान ही उसका मुख्य उद्देश्य रहा है।

भारतीय दर्शनों में आत्मवाद :

भारत के सभी दर्शन आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। न्याय और वैशेषिक आत्मा को एक अविनश्वर और नित्य पदार्थ मानते हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान को उसके विशेष गुण मानते हैं। आत्मा ज्ञानवान्, कर्ता और भोक्ता है। ज्ञान, अनुभूति और संकल्प आत्मा के धर्म हैं। चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। मीमांसा-दर्शन का भी मत यही है। मीमांसा आत्मा को नित्य और ज्ञानवान् मानतो है। चैतन्य को उसका अखण्ड धर्म मानती है। स्वप्नरहित निद्रा की तथा मोक्ष की अवस्था में आत्मा चैतन्य गुण से रहित होता है। सांख्य-दर्शन में पुरुष को नित्य और मुक्त तथा चैतन्य स्वरूप माना गया है। इस दर्शन के अनुसार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं है। पुरुष अकर्ता है। वह सुख-दुख की अनुभूतियों से रहित है। बुद्धि कर्ता है, और सुख एवं दुःख के गुणों से युक्त है। बुद्धि प्रकृति का परिणाम है, और प्रकृति निरन्तर क्रियाशील है। इसके विपरीत पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। अद्वैत वेदान्त आत्मा को विशुद्ध सत्, चित् और आनन्दस्वरूप मानता है। सांख्य अनेक पुरुषों को मानता है, लेकिन ईश्वर को नहीं मानता। अद्वैत वेदान्त केवल एक ही आत्मा को सत्य मानता है। चार्वाक दर्शन आत्मा की सत्ता को नहीं मानता। वह चैतन्य विशिष्ट शरीर को ही आत्मा कहता है। बौद्ध दर्शन आत्मा को ज्ञान, अनुभूति और संकल्पों की एक क्षण में परिवर्तन होने वाली सन्तान मानता है। इसके विपरीत जैन-दर्शन आत्मा को नित्य, अजर और अमर स्वीकार करता है। ज्ञान आत्मा का विशिष्ट गुण है। गुण और गुणी में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद रहता है। जैन-दर्शन मानता है, कि आत्मा स्वभावतः अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त-शक्ति से युक्त है। इस दृष्टि से प्रत्येक भारतीय दर्शन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है और उसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शनों में कर्म-वाद :

कर्मवाद यह भारतीय-दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है। भारत के प्रत्येक दर्शन की शाखा ने इस कर्मवाद के सिद्धान्त पर भी गम्भीर विचार किया है। जीवन में जो सुख और दुःख की अनुभूति होती है, उसका कोई आधार अवश्य होना चाहिए। इसका आधार एकमात्र कर्म-वाद ही हो सकता है। इस संसार में जो विचित्रता और विविधता का दर्शन होता है, उसका आधार प्रत्येक व्यक्ति का अपना कर्म ही होता है। कर्मवाद के सम्बन्ध में जितना गम्भीर और विस्तृत विवेचन जैन-परम्परा के ग्रन्थों में उपलब्ध है, उतना अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। एक चार्वाक-दर्शन को छोड़ कर शेष सभी भारतीय-दर्शन कर्मवाद के नियम में आस्था एवं विश्वास रखते हैं। कर्म का नियम नैतिकता के क्षेत्र में काम करने वाला कारण नियम ही है। इसका अर्थ यह है, कि शुभ कर्म का फल अनिवार्यतः सुख होता है, और अशुभ कर्म का फल अनिवार्यतः अशुभ होता है। अच्छा काम आत्मा में पुण्य उत्पन्न करता है, जो कि सुखभोग का कारण बनता है। बुरा काम आत्मा में पाप उत्पन्न करता है, जो कि दुःख भोग का कारण बनता है। सुख और दुःख क्रम से शुभ और अशुभ कर्मों के अनिवार्य फल हैं। इस नैतिक नियम की पकड़ से कोई भी छूट नहीं सकता। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म सूक्ष्म संस्कार छोड़ जाते हैं, जो निश्चय ही भावी सुख-दुःख के कारण बनते हैं। वे अवश्य ही समय आने पर अपने फल को उत्पन्न करते हैं। इन फलों का भोग इस जन्म में अथवा भविष्य में किया जाता है, अथवा आगामी जन्मों में किया जाता है। कर्म के नियम के कारण ही आत्मा को इस संसार में जन्म और मरण करना पड़ता है। जन्म और मरण का कारण कर्म ही है।

कर्म के नियम का बीज-रूप सर्वप्रथम ऋग्वेद की ऋत की धारणा में उपलब्ध होता है। ऋत का अर्थ है जगत की व्यवस्था एवं नियम। प्रकृति की प्रत्येक घटना अपने नियम के अनुसार ही होती है। प्रकृति के ये नियम ही ऋत हैं। आगे चलकर ऋत की धारणा में मनुष्य के नैतिक नियमों की व्यवस्था का भी समावेश हो गया था। उपनिषदों में भी इस प्रकार के विचार हमें बीजरूप में अथवा सूक्षरूप में उपलब्ध होते हैं। कुछ उपनिषदों में तो कर्म के नियम की भौतिक नियम के रूप में स्पष्ट धारणा की है। मनुष्य जैसा बोता है, वैसा ही काटता है, अच्छे बुरे कर्मों का फल अच्छे बुरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप में मिलता है। शुभ कर्मों से अच्छा चरित्र बनता है, और अशुभ कर्मों से बुरा। फिर अच्छे चरित्र से अच्छा जन्म मिलता है, और बुरे चरित्र से बुरा। उपनिषदों में कहा गया है, कि मनुष्य शुभ कर्म करने से धार्मिक बनता है, और अशुभ कर्म करने से पापात्मा बनता है। संसार जन्म और मृत्यु का एक अनन्त चक्र है। मनुष्य अच्छे काम करके अच्छा जन्म पा सकता है, और अन्त में भेद विज्ञान के द्वारा संसार से मुक्त भी हो सकता है। जैन-आगम और बौद्ध-पिटकों में भी कर्मवाद के शाश्वत नियमों को स्वीकार किया गया है। जैन-परम्परा कम से कम ऋग्वेद से पूर्व भी न हो, तो उसके समकालीन अवश्य रही है। उसमें भगवान ऋषभदेव के युग से ही कर्मवाद की मान्यता रही है। बौद्ध-दर्शन में भी कर्मवाद की मान्यता स्पष्ट रूप में नजर आती है। अतः बौद्ध-दर्शन भी कर्मवादी दर्शन रहा है।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा मीमांसा और वेदान्त दर्शन में कर्म के नियम में आस्था व्यक्त की गई है। इन दर्शनों का विश्वास है कि अच्छे अथवा बुरे काम अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं, जिसका विपाक होने में कुछ समय लगता है, उसके बाद उस व्यक्ति को सुख अथवा दुःख भोगना पड़ता है। कर्म का फल कुछ तो इसी जीवन में मिलता है, और कुछ अगले जीवन में। लेकिन कर्म के फल से कभी बचा नहीं जा सकता। भौतिक व्यवस्था पर कारण नियम का शासन है और नैतिक व्यवस्था पर कर्म के नियम का शासन रहता है। परन्तु भौतिक व्यवस्था भी नैतिक व्यवस्था के ही उद्देश्य की पूर्ति करती है। इस प्रकार यह देखा जाता है, कि भारतीय दर्शनों की प्रत्येक शाखा ने कर्मवाद के नियमों को स्वीकार किया है, और उसकी परिभाषा एवं व्याख्या भी अपनी-अपनी पद्धति से की है।

भारतीय दर्शनों में परलोक-वाद :

जब भारतीय-दर्शनों में आत्मा को अमर मान लिया गया, और संसारी अवस्था में उसमें सुख एवं दुःख मान लिया गया, तब यह आवश्यक हो जाता है, कि सुख एवं दुःख का मूल आधार भी माना जाए। और वह मूल आधार कर्मवाद के रूप में भारतीय-दर्शन ने स्वीकार किया। वर्तमान जीवन में आत्मा किस रूप में रहता है? और उसकी स्थिति क्या होती है? इस समस्या में से ही परलोकवाद का जन्म हुआ। परलोकवाद को जन्मान्तरवाद भी कहा जाता है। एक चार्वाक-दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों का परलोकवाद—यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। परलोक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाद अथवा जन्मान्तरवाद कर्मवाद के सिद्धान्त का फलित रूप है। कर्म का सिद्धान्त यह माँग करता है, कि शुभ कर्मों का शुभ-फल मिले और अशुभ कर्मों का अशुभ-फल। लेकिन सब कर्मों का फल इसी जीवन में मिलना सम्भव नहीं है। अतः कर्म-फल को भोगने के लिए दूसरा जीवन आवश्यक है। भारतीय-दर्शन के अनुसार यह संसार जन्म और मरण की अनादि शृंखला है। इस जन्म और मरण का कारण क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में सांख्य-दर्शन में कहा गया, कि प्रकृति और पुरुष का भेद-ज्ञान न होना ही इसका कारण है। न्याय और वैशेषिक-दर्शन में कहा गया, कि जन्म और मरण का कारण जीव का अज्ञान ही है। वेदान्त-दर्शन में कहा गया, कि अविद्या अथवा माया ही उसका मुख्य कारण है। बौद्ध-दर्शन में कहा गया, कि वासना के कारण ही जन्म और मरण होता है। जैन-दर्शन में कहा गया, कि कर्म-बद्ध संसारी आत्मा का जो बार-बार जन्म और मरण होता है, उसके पाँच कारण हैं—मिथ्यात्व-भाव, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा शुभ और अशुभ योग। सामान्य भाषा में जब तत्व-ज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाता है, तब संसार का भी अन्त हो जाता है। भारतीय-दर्शनों में यह भी कहा गया है, कि संसार एक बन्धन है, इस बन्धन का आत्यन्तिक नाश आत्मा के शुद्ध स्वरूप मोक्ष से ही होता है। बन्धन का कारण अज्ञान है, और इसी से संसार की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत मोक्ष का कारण तत्त्व-ज्ञान है। तत्त्व-ज्ञान के हो जाने पर संसार का भी अन्त हो जाता है। इस प्रकार तत्त्व-ज्ञान और उसका विपरीत भाव अज्ञान, अविद्या, माया, वासना और कर्म को माना गया है।

जन्मान्तर, भवान्तर, पुनर्जन्म और परलोक का अर्थ है—मृत्यु के बाद आत्मा का दूसरा शरीर धारण करना। चार्वाक-दर्शन ने यह माना था, कि शरीर के नाश के साथ ही चेतन-शक्ति का भी नाश हो जाता है। परन्तु आत्मा की अमरता में विश्वास करने वाले दार्शनिकों का कहना है, कि शरीर के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता। इस वर्तमान शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा बना रहता है, और पूर्व कृत कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा को दूसरा जन्म धारण करना पड़ता है। दूसरा जन्म धारण करना हो पुनर्जन्म कहा जाता है। पशु, पक्षी, मनुष्य, देव और नारक आदि अनेक प्रकार के जन्म ग्रहण करना यह संसारी आत्मा का आवश्यक परिणाम है। आत्मा अनेक जन्म तभी ग्रहण कर सकता है, जब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वह नित्य और अविच्छिन्न हो। सभी आस्तिक-दर्शन आत्मा की नित्यता को स्वीकार करते हैं।

चार्वाक-दर्शन शरीर, प्राण अथवा मन से भिन्न आत्मा जैसी नित्य वस्तु को स्वीकार नहीं करता। अतः उसके मन में जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म जैसी वस्तु मान्य नहीं है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा को क्षणिक विज्ञानों की एक सन्तति मात्र मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा क्षण-क्षण में बदलता है। जो आत्मा पूर्व क्षण में था, वह उत्तर क्षण में नहीं रहता। इस प्रकार नदी के प्रवाह के समान वे चित्त-सन्तति के प्रवाह को स्वीकार करते हैं, और कहते हैं, कि आत्मा की सन्तति नित्य प्रवहमान रहती है। इस प्रकार क्षणिकवाद को स्वीकार करने पर भी वे जन्मान्तर और पुनर्जन्म को भी स्वीकार करते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार एक विज्ञान-सन्तान का अन्तिम विज्ञान सभी पूर्व विज्ञानों की वासनाओं को आत्मसात करता है, और एक नया शरीर धारण कर लेता है। बौद्ध मत के अनुसार वासना को संस्कार भी कहा गया है। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक आत्मा की नित्यता तो नहीं मानते, लेकिन विज्ञान-सन्तान की अविच्छिन्नता को अवश्य ही स्वीकार करते हैं। जैन दार्शनिक आत्मा को केवल नित्य नहीं, परिणामी-नित्य मानते हैं। आत्मा द्रव्य-दृष्टि से नित्य है, और पर्याय-दृष्टि से अनित्य। क्योंकि पर्याय प्रतिक्षण बदलता रहता है। इस बदलने पर भी द्रव्य का द्रव्यत्व कभी नष्ट नहीं होता। जैन दार्शनिक पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं। क्योंकि प्रत्येक आत्मा अपने कर्मों के अनुसार अनेक गति एवं योनियों को प्राप्त होती रहती है। जैसे—कोई एक आत्मा जो आज मनुष्य शरीर में है, भविष्य में वह अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार देव और नारक भी बन सकता है। एक जन्म के बाद दूसरे जन्म को धारण करना इसी को जन्मान्तर अथवा भवान्तर कहा जाता है। इस प्रकार समस्त भारतीय दार्शनिक परम्पराएँ पुनर्जन्म को स्वीकार करती हैं।

भारतीय-दर्शनों में मोक्ष एवं निर्वाण :

आस्तिक दार्शनिकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ, कि क्या कभी आत्मा की इस प्रकार की स्थिति भी होगी, कि उसका पुनर्जन्म अथवा जन्मान्तर मिट जाए? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है, कि मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण ही वह स्थिति है, जहाँ पहुँचकर आत्मा का जन्मान्तर अथवा पुनर्जन्म मिट जाता है। यही कारण है, कि आत्मा की अमरता में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आस्था रखने वाले आस्तिक-दर्शनों ने मोक्ष की स्थिति को एक स्वर से स्वीकार किया है। चार्वाक-दर्शन का कहना है, कि मरण ही अपवर्ग अथवा मोक्ष है। मोक्ष का सिद्धान्त सभी भारतीय-दार्शनिकों को मान्य है। भौतिकवादी होने के कारण एक चार्वाक ही उसको स्वीकार नहीं करता। क्योंकि आत्मा को वह शरीर से भिन्न सत्ता नहीं मानता। अतः उसके दर्शन में आत्मा के मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। चार्वाक की दृष्टि में इस जीवन में और इसी लोक में सुख भोग करना मोक्ष है। इससे भिन्न इस प्रकार के मोक्ष की कल्पना वह कर ही नहीं सकता, जिसमें आत्मा एक लोकातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। बौद्ध-दर्शन में आत्मा की इस लोकातीत अवस्था को मोक्ष न कहकर निर्वाण कहा गया है। यद्यपि निर्वाण शब्द जैन ग्रन्थों में भी बहुलता से उलब्ध होता है, फिर भी इसका प्रयोग बौद्ध-दर्शन में ही अधिक रूढ़ है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार निर्वाण शब्द सब दुःखों के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था को अभिव्यक्त करता है। निर्वाण शब्द का अर्थ है—बुझ जाना। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि निर्वाण में आत्मा का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार इसमें आत्यन्तिक विनाश तो अवश्य होता है, लेकिन दुःख का होता है, न कि आत्म-सन्तति का। कुछ बौद्ध-दार्शनिक निर्वाण को विशुद्ध आनन्द की अवस्था मानते हैं। इस प्रकार बौद्ध-दर्शन क्षणिकवादी होकर भी जन्मान्तर और निर्वाण को स्वीकार करता है। जैन दार्शनिक प्रारम्भ से ही मोक्षवादी रहे हैं। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा की स्वाभाविक अवस्था ही मोक्ष है। अनन्त-दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्त-शक्ति का प्रकट होना ही मोक्ष है। आत्मा अपनी विशुद्ध अवस्था को तब प्राप्त करता है, जब कि वह सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की साधना के द्वारा कर्म पुद्गल के आवरण को सर्वथा नष्ट कर देता है। जैन-परम्परा के महान् अध्यात्मवादी आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने समयसार में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—"एक व्यक्ति लम्बे समय से कारागृह में पड़ा हो, और अपने बन्धन की तीव्रता एवं मन्दता को तथा बन्धन के काल को भली-भाँति समझता हो, परन्तु जब तक वह अपने बन्धन के वश होकर उसका छेदन नहीं करता, तब तक लम्बा समय व्यतीत हो जाने पर भी वह छूट नहीं सकता। इसी प्रकार कोई मनुष्य अपने कर्म-बन्धन का प्रदेश, स्थिति, प्रकृति और अनुभाग को भली-भाँति समझता हो, तो भी इतने मात्र से वह कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। वही आत्मा यदि राग एवं द्वेष आदि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को दूर हटा कर विशुद्ध हो जाए, तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है। बन्धन का विचार करने मात्र से बन्ध से छुटकारा नहीं मिलता है। छुटकारा पाने के लिए बन्ध को और आत्मा को स्वभावतः भली-भाँति समझकर बन्ध से विरक्त होना चाहिए[1]। जीव और बन्ध के अलग-अलग लक्षण समझकर प्रज्ञा रूपी छुरी से उन्हें अलग करना चाहिए, तभी बन्ध छूटता है बन्ध को छेदकर क्या करना चाहिए? आत्म-स्वरूप में स्थित होना चाहिए। आत्म स्वरूप को किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए? इसके उत्तर में कहा गया है, कि मुमुक्षु को आत्मा का इस प्रकार विचार करना चाहिए—मैं चेतनस्वरूप हूँ, मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, शेष जो कुछ भी है, वह मुझसे भिन्न है। शुद्ध आत्मा को समझने वाला व्यक्ति समस्त पर-भावों को परकीय जानकर उनसे अलग हो जाता है। यह पर-भाव से अलग हो जाना ही वास्तविक मोक्ष है।'[2] इस प्रकार जैन-दर्शन में मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। जैन-दर्शन में विशुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट करने को ही मोक्ष कहा गया है।

सांख्य-दर्शन मोक्ष को प्रकृति और पुरुष का विवेक मानता है। विवेक एक प्रकार का भेद-विज्ञान है। इसके विपरीत बन्ध प्रकृति और पुरुष का अविवेक है। पुरुष नित्य और मुक्त है, अपने अविवेक के कारण वह प्रकृति और उसके विकारों से अपना तादात्म्य मान लेता है। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार—ये सब प्रकृति के विकार हैं, लेकिन अविवेक के कारण पुरुष इन्हें अपना समझ बैठता है। मोक्ष पुरुष की स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति है। बन्ध एक प्रतीति मात्र है, और इसका कारण अविवेक है। योग-दर्शन मोक्ष को आत्मा का कैवल्य मानता है। कैवल्य आत्मा के प्रकृति के जाल से छूट जाने की एक अवस्था विशेष है। आत्मा को इस अवस्था की प्राप्ति तब होती है, जब तप और संयम के द्वारा मन से सब कर्म-संस्कार निकल जाते हैं। सांख्य और योग मोक्ष में पुरुष की चिन्मात्र अवस्थिति मानते हैं। इस अवस्था में वह सुख और दुःख से सर्वथा अतीत हो जाता है। क्योंकि सुख और दुःख तो बुद्धि की वृत्तियाँ मात्र है। इन वृत्तियों का आत्यन्तिक अभाव ही सांख्य और योग-दर्शन में मुक्ति है।

न्याय और वैशेषिक-दर्शन मोक्ष को आत्मा की वह अवस्था मानते

---

१ समयसार,

२ समयसार,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, जिसमें वह मन और शरीर से अत्यन्त विमुक्त हो जाता है, और सत्ता मात्र रह जाता है। मोक्ष आत्मा की अचेतन अवस्था है, क्योंकि चैतन्य तो उसका एक आगन्तुक धर्म है, स्वरूप नहीं। जब आत्मा का शरीर और मन से संयोग होता है, तभी उसमें चैतन्य का उदय होता है। अतः मोक्ष की अवस्था में इनसे वियोग होने पर चैतन्य भी चला जाता है। मोक्ष की प्राप्ति तत्त्व-ज्ञान से होती है। यह दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था है।

मीमांसा-दर्शन में भी मोक्ष को आत्मा की स्वाभाविक अवस्था की प्राप्ति माना गया है, जिसमें सुख और दुःख का अत्यन्त विनाश हो जाता है। अपनी स्वाभाविक अवस्था में आत्मा अचेतन होता है। मोक्ष दुःख के आत्यन्तिक अभाव की अवस्था है। लेकिन इसमें आनन्द की अनुभूति नहीं होती। आत्मा स्वभावतः सुख और दुःख से अतीत है। मोक्ष की अवस्था में ज्ञान-शक्ति तो रहती है, लेकिन ज्ञान नहीं रहता।

अद्वैत-वेदान्त मोक्ष को जीवात्मा और ब्रह्म के एकीभाव की उपलब्धि मानता है। क्योंकि परमार्थतः आत्मा ब्रह्म ही है। आत्मा विशुद्ध, सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है! बन्ध मिथ्या है। अविद्या एवं माया ही इसका कारण है। आत्मा अविद्या के कारण शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार के साथ अपना तादात्म्य कर लेता है, जो कि वस्तुतः माया निर्मित है। वेदान्त-दर्शन के अनुसार यही मिथ्या तादात्म्य बन्ध का कारण है। अविद्या से आत्मा का बन्धन होता है, और विद्या से इस बन्धन की निवृत्ति होती है, मोक्ष आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। यह न चैतन्य रहित अवस्था है, और न दुःखाभाव मात्र की अवस्था है, बल्कि सत्, चित् और आनन्द की ब्रह्म अवस्था है। यही जीवात्मा के ब्रह्म-भाव की प्राप्ति है। इस प्रकार मोक्ष की धारणा समस्त भारतीय-दर्शनों में उपलब्ध होती है। वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति दार्शनिक चिन्तन का लक्ष्य है। भारत के सभी दर्शनों में इसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, और अपनी-अपनी पद्धति से प्रत्येक ने उसकी व्याख्या की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन
की
तत्त्व-मीमांसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनदर्शन की तत्व-मीमांसा

प्रत्येक दर्शन-शास्त्र की अपनी एक तत्त्व-मीमांसा होती है। प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि की जाती है। ज्ञान से ज्ञेय को जाना जाता है। प्रमाण का जो विषय होता है, वह प्रमेय कहा जाता है। ज्ञान का जो विषय होता है, उसे ज्ञेय कहते हैं। प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता—यह एक त्रिपुटी है, जो प्रमाण-शास्त्र में अत्यन्त प्रसिद्ध है। ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता—यह एक दूसरी त्रिपुटी है, जो अध्यात्म शास्त्र में प्रख्यात रही है। प्रमाता आत्मा, प्रमाण के द्वारा प्रमेय को जानता है। ज्ञाता जीव, ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को समझता है। प्रमाता एवं ज्ञाता जीव को आत्मा कहा गया है। प्रमेय एव ज्ञेय सत्, द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ को कहते हैं। भारत के विभिन्न दर्शन-शास्त्रों में ये चारों शब्द व्यवहृत होते रहे हैं। वेदान्त में सत्, वैशेषिक में और मीमांसा में द्रव्य, योग में और सांख्य में तत्त्व, तथा न्याय में पदार्थ शब्द का बहुलता से प्रयोग किया गया है। बौद्ध दर्शन में भी सत् शब्द का प्रयोग है। जैसे कि यत् सत् तत् क्षणिकम् इसके विपरीत वेदान्त का कथन है, कि सर्वं सत्, शाश्वतं तथा एकञ्च। सत् के स्थान पर कहीं-कहीं पर सत्ता शब्द का प्रयोग भी उपलब्ध होता है। न्याय दर्शन में दो प्रकार की सत्ता मानी जाती है—पर और अपर। पर सत्ता को परम सत्ता भी कहा गया है। चार्वाक दर्शन में तत्त्व शब्द का प्रयोग किया गया है। तत्त्व एक है, और वह जड़भूत है, चेतन नहीं है।

जैन दर्शन के समन्वयवादी महान् आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में चारों शब्दों का प्रयोग किया है—सत्, द्रव्य, तत्त्व और पदार्थ। एक अन्य शब्द का प्रयोग भी जैन-शास्त्रों में उपलब्ध होता है, और वह है—अस्तिकाय शब्द। जो सत् है, वह द्रव्य है, जो द्रव्य है, वह तत्त्व है, जो तत्त्व है, वह पदार्थ है। जो उत्पन्न होता है, जो व्यय होता है, और जो ध्रुव भी होता है, वह सत् कहा गया है। जो निरन्तर नूतन पर्यायों को प्राप्त होता रहता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वह द्रव्य है। तत्त्व की परिभाषा है, कि तस्य भावं तत्त्वम्। जो वस्तु का स्वभाव है, वह तत्त्व है। पदार्थ की व्याख्या है, कि पदस्य अर्थः, पदार्थः। जो पद का अभिधेय अर्थात् वाच्य है, वह पदार्थ है। ये चारों शब्द सार्थक एवं सयुक्तिक हैं।

कुछ थोड़ा-सा अन्तर भी है। परम निश्चय नय से सत् एक होता है। व्यवहार नय से दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात और नव भी तथा अधिक भी हो सकते हैं। जैन दर्शन में प्रसिद्ध है, कि मूल द्रव्य दो हैं—जीव और अजीव। द्रव्य षट् हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। अस्तिकाय पाँच हैं - जीव अस्तिकाय, पुद्गल अस्तिकाय, धर्म अस्तिकाय, अधर्म अस्तिकाय और आकाश अस्तिकाय। तत्त्व सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। पदार्थ नव हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष। ये सब प्रमेय रूप और ज्ञेय रूप हैं, क्योंकि प्रमा तथा ज्ञान के विषय हैं। तत्त्व के तीन भेद भी हो सकते हैं—ज्ञेय, हेय और उपादेय। जीव और अजीव, ज्ञेय हैं। पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध हेय हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय हैं। तत्त्व के दो रूप भी हैं—सयोगी और वियोगी। पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध—ये चार सयोगी हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये तीन वियोगी हैं। इस प्रकार तत्त्व के अनेक विभाजन हो सकते हैं।

सत् की व्याख्या :

वाचक प्रवर उमास्वाति ने स्व-रचित तत्त्वार्थ सूत्र के पञ्चम अध्याय के उनतीस सूत्र में, सत् की व्याख्या इस प्रकार से की है—जो उत्पाद, व्यय आर ध्रुव, इन तीनों से युक्त हो, तदात्मक हो, त्रयात्मक हो, वही सत् है। सत् के स्वरूप के विषय में, भारतीय दर्शनों में बहुत गहन मत-भेद रहा है। वेदान्त दर्शन केवल ब्रह्म को सत् अर्थात् ध्रुव एवं नित्य मानता है। बौद्ध दशन निरन्वय, क्षणिक और एकमात्र उत्पाद एवं विनाश-शील को सत् कहता है। सांख्य-दर्शन चेतन तत्त्व रूप सत् को तो केवल ध्रुव एवं कूटस्थ नित्य मानता है, और प्रकृति तत्त्व रूप सत् को परिणामि-नित्य मानता है। न्याय दर्शन आकाश, काल, दिशा, आत्मा और परमाणु को सत् अर्थात् नित्य कहता है और घट तथा पट आदि सत् को अनित्य, उत्पाद विनाश-शील मानता है।

जैन दर्शन का कथन है, कि एकान्त रूप से नित्य और एकान्त रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से अनित्य, जगत् का एक भी पदार्थ नहीं है। समस्त पदार्थ, चेतन हो, या अचेतन, सूक्ष्म हो, या स्थूल, मूर्त हो, किंवा अमूर्त, सभी सत् उत्पाद, व्यय और ध्रुव रूप से त्रिरूप है। संसार की प्रत्येक वस्तु में दो अंश रहते हैं। एक अंश, जो तीनों कालों में शाश्वत है, और द्वितीय अश, जो सदा अशाश्वत रहा है। किसी अपेक्षा से वस्तु अस्थिर है, और किसी अपेक्षा से स्थिर भी है। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रुव है, स्थिर है, और अशाश्वत अंश के कारण वही वस्तु उत्पाद एवं व्यय रूप होने से अस्थिर भी है। द्रव्य दृष्टि से वस्तु नित्य है, और पर्याय दृष्टि से अनित्य। अतएव जैन दर्शन नित्यानित्यवादी है, अनेकान्तवादी है। यही सत् की व्याख्या है, जिसे जैन दर्शन ने स्पष्ट किया है।

नित्य की परिभाषा :

नित्य क्या है ? अनित्य क्या है ? इस विषय में भारतीय दर्शनों में काफी विवाद रहा है। वाचक उमास्वाति ने इसका भी बहुत सुन्दर समाधान किया है। नित्य की परिभाषा में कहा गया है, कि जो उसके भाव से अर्थात् अपनी जाति से च्युत न हो, वही नित्य है। प्रत्येक वस्तु में मूल जाति अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से ध्रुवत्व और परिणाम की अपेक्षा से उत्पाद एवं व्यय होने में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता। जैन दर्शन परिणामि नित्यत्व को मानता है। सत् उसके भाव से च्युत न होने के कारण नित्य है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव रूप होना ही वस्तु मात्र का स्वरूप है। यही स्वरूप सत् कहा गया है। सत् स्वरूप नित्य है, वह तो तीनों कालों में एक-जैसा अवस्थित है। अपनी-अपनी जाति को न छोड़ना, यह सभी द्रव्यों का ध्रुवत्व है। प्रत्येक समय में भिन्न-भिन्न परिणाम रूप से उत्पन्न एवं विनष्ट होना, यह उनका उत्पाद एवं व्यय है। अतएव प्रत्येक वस्तु त्रयात्मक होती है।

विवक्षा, अविवक्षा और सह विवक्षा से तीन भंग अर्थात् विकल्प हो जाते हैं—नित्य, अनित्य और नित्यानित्य। जैसे कि आत्मा है। यह सत् भी है, असत् भी है, और सद् असत् भी है। इस प्रकार अपेक्षा विशेष से सत्त्व और अपेक्षान्तर से असत्त्व ये दोनों धर्म आत्मा में सिद्ध होते हैं। जब जिसकी विवक्षा हो, तब वह प्रधान है, और जिसकी विवक्षा न हो, वह अप्रधान है। जो कर्म का कर्ता है, वही उसके फल का भोक्ता हो सकता है। कर्म और फल के एकाधिकरण की प्रतीति बताने के लिए आत्मा में द्रव्य दृष्टि से सिद्ध नित्यत्व की विवक्षा की जाती है। उस समय उसका पर्याय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि से सिद्ध अनित्यत्व विवक्षित न होने से गौण है, अप्रधान है। परन्तु कर्तृत्व की अपेक्षा भोक्तृत्व काल में आत्मा की अवस्था बदल जाती है। इस स्थिति में कर्मकालीन और फलकालीन अवस्था भेद दिखाने के लिए जब पर्याय-दृष्टि सिद्ध अनित्यत्व का प्रतिपादन किया जाता है, तब द्रव्य-दृष्टि सिद्ध नित्यत्व प्रधान नहीं रहा, वह गौण हो गया। अतः विवक्षा और अविवक्षा के कारण कभी आत्मा को नित्य और कभी अनित्य कहा जाता है। जब दोनों धर्मों को विवक्षा एक साथ की जाती है, तब दोनों धर्मों का युगपत् प्रतिपादन कर सके, इस प्रकार का वाचक शब्द न होने के कारण आत्मा को अवक्तव्य कहा जाता है।

सप्त भंगी :

विवक्षा, अविवक्षा और सह विवक्षा को लेकर, अन्य भी चार वाक्य बच जाते हैं। जैसे कि—

१. नित्यानित्य

२. नित्य अवक्तव्य

३. अनित्य अवक्तव्य

४. नित्य अनित्य अवक्तव्य

इन सात वाक्य रचनाओं को सप्त भंगी कहते हैं। मूल में दो भंग हैं नित्य और अनित्य। शेष इनका सम्मिश्रण है।

द्रव्य का लक्षण :

जिसमें गुण और पर्याय हों, वह द्रव्य कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणामी स्वभाव के कारण समय-समय में निमित्त के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत होता रहता है, विविध परिणामों को प्राप्त करता रहता है। द्रव्य में परिणाम उत्पन्न करने की जो शक्ति है, वही उसका गुण कहा जाता है, और गुणजन्य परिणाम को पर्याय कहते हैं। गुण है, कारण और पर्याय है, उसका कार्य। एक द्रव्य में अनन्त गुण हैं, जो अपने आश्रय भूत द्रव्य से अविभाज्य हैं।

जीव और पुद्गल द्रव्य हैं, क्योंकि उनमें अनन्त गुण हैं। चेतना जीव का विशेष गुण है, और रूप पुद्गल का विशेष गुण है। द्रव्य के विशेष गुण को असाधारण धर्म कहते हैं, यह असाधारण धर्म ही लक्षण कहा जाता है। उपयोग एवं चेतना जीव द्रव्य का लक्षण है। रूप एवं मूर्ति पुद्गल द्रव्य का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षण है। जीव द्रव्य में चेतना गुण है, ज्ञान तथा दर्शन पर्याय हैं। पुद्गल द्रव्य में नील तथा पीत पर्याय हैं, रूप गुण की। अतएव गुण और पर्याय के आश्रय को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य में सब गुण एक-जैसे नहीं होते। कुछ सामान्य हैं, तो कुछ विशेष भी हैं। जो गुण समस्त द्रव्यों में रहते हैं, वे सामान्य है, जैसे कि अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रदेशवत्व और ज्ञेयत्व आदि। कुछ विशेष होते हैं, जैसे कि जीव में चेतना और पुद्गल में रूप। असाधारण गुण और उसकी पर्याय के कारण ही प्रत्येक द्रव्य एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। एक विशेष बात यह है, कि पुद्गल द्रव्य के मूर्त होने से उसके गुण गुरु-लघु तथा पर्याय भी गुरु-लघु कहे जाते हैं। शेष समस्त द्रव्यों के अमूर्त होने से उनके गुण और पर्याय अगुरु-लघु कहे जाते हैं।

गुण का स्वरूप :

जो सदा द्रव्य में तो रहते हैं, पर जो स्वयं गुण-शून्य हैं, वे गुण कहे जाते हैं। गुण कभी गुण में नहीं रहता। गुण के समान पर्याय भी द्रव्य के आश्रित हैं, और निर्गुण हैं, फिर वे उत्पाद-व्यय रूप होने से द्रव्य में सदा विद्यमान नहीं रहते। गुण ध्रुव रूप होने से सदा ही द्रव्य में उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः यही अन्तर हैं, गुणों में और पर्यायों में। गुण में गुणान्तर मानने से अनवस्था दोष उपस्थित हो जाता है।

पर्याय का स्वरूप :

गुणों का परिणमन पर्याय है। गुणों का विकार पर्याय है। वाचक प्रवर उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के पञ्चम अध्याय के इकतालीसवें सूत्र में, पर्याय के स्वरूप का प्रतिपादन इस प्रकार किया है, कि उसका होना, अर्थात् स्वरूप में स्थित रहकर, उत्पन्न एवं नष्ट होते रहना, यह परिणाम है, यह पर्याय है। द्रव्य हो अथवा गुण हो, सभी अपनी-अपनी जाति का बिना परित्याग किए प्रतिसमय निमित्त के अनुसार भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त होते रहते हैं। यही द्रव्यों तथा गुणों का परिणाम है।

परिणाम दो प्रकार का होता है—अनादिमान् और आदिमान्। जीवों में योग और उपयोग आदिमान् होते हैं। द्रव्य रूपी हो किंवा अरूपी, समस्त द्रव्यों में अनादि और आदि, दोनों प्रकार के परिणाम उपलब्ध होते हैं। प्रवाह की अपेक्षा अनादि और व्यक्ति की अपेक्षा आदि परिणाम सब में समान रूप से घटाया जा सकता है। जैन तत्व-मीमांसा का मूल आधार है—द्रव्य, गुण एवं पर्याय।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व-वर्गीकरण :

भारत के सभी दर्शनों ने तत्त्व को स्वीकार किया है। उसका वर्गीकरण और संख्या भी अपनी-अपनी अवधारणा के अनुसार की है। जैन परम्परा के आचार्यों ने अपने विभिन्न ग्रन्थों में द्रव्य तथा तत्त्व का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—षड् द्रव्य, पञ्च अस्तिकाय, सप्त तत्त्व और नव तत्त्व अथवा नव पदार्थ।

षड् द्रव्य :

१. धर्म
२. अधर्म
३. आकाश
४. काल
५. पुद्गल
६. जीव

पञ्च अस्तिकाय :

१. धर्मास्तिकाय
२. अधर्मास्तिकाय
३. आकाशास्तिकाय
४. पुद्गलास्तिकाय
५. जीवास्तिकाय

सप्त तत्त्व :

१. जीव
२. अजीव
३. आस्रव
४. संवर
५. बन्ध
६. निर्जरा
७. मोक्ष

नव पदार्थ :

१. जीव
२. अजीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. आस्रव
४. बन्ध
५. पुण्य
६. पाप
७. संवर
८. निर्जरा
९. मोक्ष

संक्षेप रूप :

१ जीव
२. अजीव

१. मूर्त
२. अमूर्त
अथवा
१. रूपी
२. अरूपी

मध्यम रूप

१. ज्ञेय
२. हेय
३. उपादेय

तत्त्वों का विभाग तीन दृष्टियों से किया गया है—आगम, दर्शन और अध्यात्म। आगमों में नव तत्त्व अथवा नव पदार्थों का मुख्यतया वर्णन किया है। दर्शन ग्रन्थों में प्रधानतया षड् द्रव्य एवं पञ्च अस्तिकाय का वर्णन है। अध्यात्म ग्रन्थों में ज्ञेय, हेय और उपादेय रूप में वर्णन उपलब्ध होता है। ग्रन्थकारों ने अपने शिष्य की बुद्धि और अपनी रुचि के अनुसार कहीं पर विस्तार से और कहीं पर संक्षेप से वर्णन किया है। एक व्यक्ति तत्त्व को विस्तार से जानना चाहता है। दूसरा व्यक्ति संक्षेप में समझना चाहता है। एक व्यक्ति समझना भर चाहता है। दूसरा समझकर, तदनुसार जीवन जीना चाहता है। उपदेष्टा सामने वाले की योग्यता, शक्ति और बुद्धि को नाप कर ही उपदेश करता है। यही कारण है, कि ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार से तत्त्वों का वर्गीकरण, विभाजन और संख्या भेद दृष्टिगोचर होता है। प्रतिपादन शैली भी भिन्न-भिन्न होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन की तत्व दृष्टि :

जैन दार्शनिकों ने मूल भूत तत्त्व दो माने हैं—जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व। कहीं पर जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य भी कहा गया है। स्थानांग सूत्र में दो राशियों का उल्लेख है—जीव-राशि और अजीव-राशि। समस्त जगत को दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। इन दोनों से बाहर जगत् में कुछ शेष नहीं बचता। इन दोनों का ही विस्तार पञ्च-अस्तिकाय, षड् द्रव्य, सप्त तत्त्व और नव पदार्थ हो जाते हैं। तत्त्वों के सम्बन्ध में भारत के अन्य दर्शनों में भी कहीं पर संक्षेप और कहीं पर विस्तार से देखा जा सकता है।

सांख्य दर्शन में पच्चीस तत्त्व माने गए हैं, लेकिन मूल में दो हैं—प्रकृति और पुरुष। जगत् इन दो का ही विस्तार है। उपनिषद् एवं वेदान्त में, एकमात्र ब्रह्म को तत्त्व माना गया है। ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब भ्रम है, मिथ्या है। सब कुछ चेतन है, जड़ है ही नहीं। इसके विपरीत भूतवादी चार्वाक बृहस्पति एकमात्र जड़ को ही जगत् का आधारभूत तत्त्व मानता है। वह चेतन को नहीं मानता। उसके मत में चार भूत अथवा पाँच भूत तत्त्व हैं, जो जगत् के आधार माने जाते हैं। ये भूत, जो स्थूल है, इन्द्रिय गोचर है, उन्हें ही वह मानता है। दोनों को मिलाने से जैन दृष्टि हो जाती है—जीव और अजीव। यही तो जैन तत्त्व-दृष्टि है।

सांख्य और योग भी दो तत्त्व स्वीकार करता है—पुरुष और प्रकृति। पर उसने पुरुष को कूटस्थ नित्य माना, और प्रकृति में नित्य-निरन्तर परिवर्तन। उस दर्शन में बन्ध एवं मोक्ष की व्यवस्था नहीं बैठ सकती। अतः जैन दर्शन में जीव और अजीव को परिणामी नित्य मानकर बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था को नियत कर दिया।

बौद्ध दर्शन द्वैतवादी है—वह जड़ और चेतन की सत्ता को तो स्वीकार करता है परन्तु क्षण-ध्वंसवादी है। किसी की भी सत्ता एक क्षण से अधिक नहीं रहती है। अतः बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था का वहाँ पर अभाव है। क्योंकि वह क्षणिकवादी दर्शन है। जो दोष नित्यवाद में हैं, वे ही दोष क्षण-ध्वंसवाद में भी हैं, अतः बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पाती। वह तभी बन पाती है, जबकि आत्मा को परिणामी नित्य स्वीकार किया जाए। सांख्य दर्शन में यह दोष है, कि वह प्रकृति को तो परिणामी नित्य मानता है, लेकिन पुरुष को कूटस्थ नित्य।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न्याय-वैशेषिक दर्शन जीव और जड़, दोनों को स्वीकार करता है। पञ्चभूतों को और आत्मा को भी मानता है। आत्मा के दो भेद हैं—जीवात्मा और परमात्मा। आत्मा को ज्ञान का अधिकरण मानता है, लेकिन मुक्त दशा में, आत्मा को ज्ञान-शून्य मानता है। ज्ञान-शून्य तो जड़ ही होता है, चेतन नहीं। मोक्ष चेतन का होता है, जड़ का कभी नहीं होता।

मीमांसा दर्शन भी जीव और जगत् दोनों को अनादि एवं अनन्त मानता है। मोक्ष की मान्यता में उसे विश्वास नहीं, यज्ञ रूप कर्म में उसकी आस्था है, जिसका फल स्वर्ग होता है। उसके मन में, यज्ञ, तप और दान रूप कर्म से स्वर्ग के सुख मिलते हैं। भौतिक सुखों की साधना है, अध्यात्म नहीं।

जैन दर्शन के अनुसार जीव के चैतन्य का अनुभव, एकमात्र शरीर में ही होता है। अतः जीव स्व-देह परिमाण हो जाता है। संसार-दशा में जीव को पूर्व जीवन छोड़ कर, उत्तर जीवन में जाना-आना पड़ता है। जीव की गति में धर्म-द्रव्य सहकारि कारण होता है, और स्थिति में अधर्म-द्रव्य सहकारि होता है। जीव और अजीव सब आकाश में रहते हैं। क्योंकि अवकाश देना, आकाश का स्वभाव है। जीव और कर्म का अनादि कालीन सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही बन्ध है। जीव के साथ पुद्गल का बन्ध होता है। जीव और अजीव में, निरन्तर जो परिवर्तन होता रहता है, वह काल के बिना कभी भी नहीं हो सकता। अतः काल भी द्रव्य है।

साधना के मूल तत्व :

साधना की दृष्टि से सप्त तत्त्व तथा नव पदार्थ होते हैं। सप्त तत्त्व ये हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें आस्रव और बन्ध—संसार के हेतु हैं। संवर और निर्जरा—मोक्ष के कारण हैं। इनमें पुण्य और पाप को परिगणित करने से नव पदार्थ हो जाते हैं। पुण्य और पाप का अन्तर भाव, आस्रव एवं बन्ध में हो जाता है। आस्रव के दो भेद हैं—शुभ आस्रव और अशुभ आस्रव। बन्ध के भी दो भेद हैं—शुभ बन्ध और अशुभ बन्ध। शुभ पुण्य है, अशुभ पाप है। आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप—ये चार हेय तत्त्व हैं। क्योंकि संसार के कारण हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये तीन उपादेय तत्त्व हैं। क्योंकि इनसे आत्मा की विशुद्धि होती है। जीव और अजीव—ये दोनों ज्ञेय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना क्या है ? ज्ञेय को समझो, बिना समझे साधना नहीं हो सकती। भगवान् ने कहा है – जीव और अजीव को समझो। तभी आचार का पालन कर सकते हो। जो उपादेय है, उसे ग्रहण करो। उसका परिपालन करो। संवर और निर्जरा की साधना से मोक्ष की उपलब्धि होती है। मोक्ष होता है, निर्जरापूर्वक और निर्जरा होती है संवर पूर्वक। हेय को छोड़ना आवश्यक है। अहितकर, अकल्याणकर तथा अक्षेमंकर को छोड़ना होगा। क्योंकि उससे संसारी जीव का बन्धन अधिक सुदृढ़ हो जाता है। वह कभी मुक्त नहीं हो सकता। कर्म संस्कार का रुक जाना, संवर है। कर्म संस्कार का अंशतः जीव से पृथक हो जाना, निर्जरा है। कर्म संस्कार का जीव से सर्वांशतः पृथक् हो जाना, मोक्ष है। कर्म जिन कारणों से जीव के बँधते हैं, वे आस्रव हैं। जीव और अजीव का परस्पर एकाकार सम्बन्ध हो जाना ही तो वस्तुतः बन्ध कहा गया है। बन्ध से विमुक्त होना ही अध्यात्म जीवन है।

जीव और कर्म :

कर्म एक पारिभाषिक शब्द है, उसका सामान्य अर्थ होता है, क्रिया। वेद से लेकर, ब्राह्मण काल तक वैदिक धर्म में यही अर्थ मान्य रहा है। यज्ञ, याग और होम क्रियाओं को कर्म संज्ञा प्रदान की। वैदिक लोगों की अवधारणा थी, यज्ञ कर्म से देवता प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न होकर, वे मनोकामना की सम्पूर्ति करते हैं, जीवन को सम्पन्न करते हैं, जीवन को सुखी बनाते हैं।

जैन दर्शन में कर्म का अर्थ, क्रिया तो रहा ही, परन्तु उससे आगे भी उसका अर्थ होता है। कर्म के दो भेद हैं भाव कर्म और द्रव्य कर्म। भाव कर्म का अर्थ होता है—जीव की क्रिया द्वारा जो अजीव द्रव्य पुद्गल आत्मा के साथ संबद्ध होकर, आत्मा को बाँध लेता है, वह द्रव्य कर्म होता है। जीव के शुभ-अशुभ परिणाम भाव कर्म होते हैं। जीव की क्रिया भाव कर्म और उसका फल द्रव्य कर्म। भाव से द्रव्य एवं द्रव्य से भाव, यह एक चक्र है। क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कषाय तो आत्मा के आभ्यन्तर परिणाम हैं, ये ही तो भाव कर्म हैं। राग, द्वेष और मोह को भी भाव कर्म कहा गया है। योग और कषाय से कर्म का बन्ध होता है।

न्याय-वैभाषिक दर्शन में, राग, द्वेष और मोह—इन तीन को दोष माना है। आत्मा की प्रवृत्ति तीन दोषों के कारण होती है। प्रवृत्ति से धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। धर्म और अधर्म को संस्कार कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म और अधर्म को अदृष्ट भी कहा जाता हैं। दोष से सस्कार, संस्कार से जन्म, जन्म से दोष और फिर दोष से संस्कार। यह परम्परा बीज तथा अंकुर के समान है, एक चक्र जैसा है।

सांख्य-योग के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—पाँच क्लेश हैं। इन पाँचों से क्लिष्ट वृत्ति उत्पन्न होती है, चित्त व्यापार की उत्पत्ति होती है। उससे धर्म-अधर्म संस्कार उत्पन्न होते हैं। क्लेश को भाव कर्म, वृत्ति को योग और संस्कार को द्रव्य कर्म कहा जाता है। संस्कार को कहीं पर कर्म, कहीं पर वासना और कहीं पर अपूर्व कहा गया है।

बौद्ध दर्शन की मान्यता है, कि जीवों की विभिन्न दशा कर्मकृत है। बौद्ध लोभ और मोह को कर्म की उत्पत्ति का कारण मानते हैं। संसार का चक्र अनादिकालीन है। राजा मिलिंद ने आचार्य नागसेन से पूछा—जीव के द्वारा किया गया कर्म कहाँ रहता है। आचार्य ने कहा कि दिखलाया नहीं जा सकता, कि कर्म कहाँ रहते हैं। विशुद्धि-मार्ग ग्रन्थ में कर्म को सूक्ष्म कहा है। बौद्ध दर्शन में कर्म को वासना कहा गया है।

मीमांसा दर्शन में कहा है, कि यज्ञ रूप अनुष्ठान से अपूर्व उत्पन्न होता है। यही अनुष्ठान का फल प्रदान करता है, क्योंकि यज्ञ कर्म का स्वर्ग रूप फल अपने सूक्ष्म रूप में, तत्काल उत्पन्न होकर बाद में काल का परिपाक होने पर प्रकट होता है। वेदान्त के अनुसार ईश्वर कर्म के अनुरूप जीव को फल प्रदान करता है। कर्म, संस्कार, वासना, माया और अपूर्व ये शब्द प्रायः एकार्थक शब्द हैं। अतः आस्तिक दर्शनों को कर्म की सत्ता में अवश्य ही आस्था रखनी होती है।

बन्ध और मोक्ष :

आत्मा की सत्ता में आस्था रखने वाले भारतीय दर्शनों ने बन्ध और मोक्ष को स्वीकार किया है। अनात्मवादी बौद्ध दर्शन ने भी बन्ध और मोक्ष को माना है। समस्त दर्शनों ने अविद्या, मोह, अज्ञान एवं मिथ्यादर्शन तथा मिथ्या ज्ञान को बन्ध का कारण माना है। विद्या तथा तत्त्व-ज्ञान को मोक्ष का हेतु कहा है।

बन्ध क्या है ? जीव का शरीर के साथ संयोग ही आत्मा का बन्ध है। अतः जड़ और जीव का विशिष्ट संयोग ही बन्ध कहलाता है। आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और कर्म का बन्ध अनादि है। शंकर भी ब्रह्म और माया का सम्बन्ध अनादि मानते हैं। रामानुज ने भी बद्ध जीव को अनादि काल से ही बद्ध स्वीकार किया है। सांख्य मत में भी प्रकृति और पुरुष का संयोग ही बन्ध है, और वह अनादिकाल से चला रहा है। अन्य दर्शन, बन्ध और मोक्ष जीव के होते हैं, इस प्रकार कहते हैं। किन्तु सांख्य मत की मान्यता है, कि बन्ध और मोक्ष प्रकृति के होते हैं, पुरुष के नहीं।

बौद्ध दर्शन में, नाम और रूप का अनादि सम्बन्ध ही संसार है, बन्ध है, और उसका वियोग ही निर्वाण है। जैन दर्शन में, जीव और पुद्गल का अनादि सम्बन्ध माना गया है। जीव और पुद्गल का वियोग ही मोक्ष है। बन्ध और मोक्ष, दोनों परस्पर विरोधी भाव हैं। बन्ध दुःख है, मोक्ष अनन्त सुख है। बन्ध और मोक्ष, यह दर्शन-शास्त्र का एक अत्यन्त गम्भीर विषय रहा है। अतएव सभी ने इस पर विचार किया है।

लोक और पर-लोक :

मरणोत्तर जीवन को पर-लोक कहा जाता है। मृत्यु के बाद क्या होता है ? आत्मा की सत्ता रहती है, या नहीं रहती। वस्तुतः कर्म और परलोक दोनों परस्पर संबद्ध हैं। एक के अभाव में दूसरे की सत्ता नहीं रहती। आत्म-वादी दर्शन मृत्यु के साथ जीवन का अन्त नहीं मानते। पूर्व जीवन और पुनर्जीवन को सभी स्वीकार करते हैं। कर्म अपना फल अवश्य ही प्रदान करता है, यही भारतीय सदाचार का मूल आधार रहा है।

वैदिक परम्परा में देवलोक और देवों की परिकल्पना अत्यन्त प्राचीन है। लेकिन वेदों में वर्णित अधिकतर देवों की कल्पना प्रकृति की शक्तियों के आधार पर की है। वेद बहुदेववाद को स्वीकार करता है। विभिन्न प्रकार के देव हैं।

बौद्ध साहित्य में भी देव और देवलोक को स्वीकार किया है। नरक भी माना गया है। तिर्यञ्च अर्थात् पशु, पक्षी, प्रेत और असुर योनि भी मानी है। जातकों में आठ नरक की मान्यता है। इन योनियों में कर्म के शुभ और अशुभ फल को भी माना गया है।

जैन साहित्य तो लोक तथा परलोक की परिचर्चाओं से भरा पड़ा है। लोक और परलोक, दोनों को स्वीकार किया है। पूर्वभव और उत्तर भव, दोनों का वर्णन बहुलता से उपलब्ध होता है। तीर्थंकरों के पूर्वभवों का वर्णन विस्तार से किया गया है। जैन-शास्त्रों में चार गति मानी हैं—नरक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गति, तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति। नरकों की संख्या सात है। देवलोकों की संख्या छब्बीस मानी है। मनुष्य असंख्यात है। तिर्यंच असंख्यात और अनन्त भी हैं। जीव एकेन्द्रिय में लेकर पंचेन्द्रिय तक माने हैं। जैन दर्शन के अनुसार जीव अपने कर्म के अनुसार ही परलोक में जाता है। अत-एव लोक-परलोक दोनों ही मान्य हैं।

आज का विज्ञान भी परा-विद्या के द्वारा मृत आत्माओं से सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास कर रहा है। वस्तुतः परा-विद्या का अर्थ परलोक की आत्माओं ने सम्बन्ध स्थापित करना। भूत-प्रेतों का कथा साहित्य भी पर-लोक को सिद्ध करने का एक साधन है। बहुत-से लोग अपने पूर्व जन्म की कथा सुनाते हैं।

विज्ञान और तत्त्व :

प्रकृति और उसकी शक्ति की खोज ही विज्ञान है। विज्ञान भौतिक तत्त्वों का अनुसन्धान करता है। चेतन तत्त्व की खोज उसने नहीं की। यदि की भी है, तो बहुत कम। लेकिन भारतीय दर्शनों ने जीव और जड़ दोनों का अनुसन्धान किया है। आज के विज्ञान ने परमाणु की और उसकी शक्ति का गहन अनुसन्धान किया है, और उसका प्रयोग भी किया है। विज्ञान विनाशकारी भी है, और मंगलकारी भी। विज्ञान को असत्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसका आधार अनुसन्धान और प्रयोग रहा है। विज्ञान प्रत्यक्ष से इन्कार नहीं करता, लेकिन वह परोक्ष को अस्वीकार करता है। पञ्चभूत को मानता है, जीव और आत्मा को नहीं। चेतन सत्ता प्रत्यक्ष नहीं है। अतः वह चेतन को मन और मस्तिष्क कहकर मौन हो जाता है। जैन दर्शन मन तथा मस्तिष्क को भौतिक मानता है, चेतन, जीव एवं आत्मा नहीं। जैन दर्शन जीव, जगत और परमात्मा तीनों की स्वतन्त्र सत्ता को मानता है। जैस जीव की सत्ता है, वैसे अजीब की भी है। यह जगत षड् द्रव्यात्मक है। इनमें जीव चेतन है, शेष पाँच अचेतन कहे गए हैं।

षड् द्रव्य :

जैन दर्शन में स्वीकृत षड् द्रव्यों का उल्लेख मूल आगमों में, उसके व्याख्या ग्रन्थों में तथा उत्तरकालीन ग्रन्थों में भी है। षड् द्रव्दों की परि-गणना इस प्रकार है—

१. जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. पुद्गल
३. धर्म
४. अधर्म
५. आकाश
६. काल

जैन दर्शन के अनुसार जगत में दो तत्त्व प्रधान हैं—जीव और अजीव। जीव के मुख्य रूप में दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। अजीव के भी मुख्य भेद दो हैं—रूपी और अरूपी। मूर्त और अमूर्त। पुद्गल रूपी एवं मूर्त है। शेष चार अजीव अरूपी तथा अमूर्त हैं। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होता है, उसको रूपी वा मूर्त कहा जाता है। ये चारों गुण पुद्गल में उपलब्ध होते हैं। अतः पुद्गल रूपी है, शेष चार अरूपी हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल में, उक्त चार गुण नहीं होते। अतः वे अरूपी हैं। अरूपी का प्रत्यक्ष नहीं होता, रूपी का ही प्रत्यक्ष होता है।

भौतिक विज्ञान :

अजीव तत्त्व के सम्बन्ध से ही जड़ विज्ञान का अस्तित्व है। वेदान्त में माया को माना गया है, लेकिन उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह एक भ्रम है, मिथ्या है, कल्पना-प्रसूत है। माया की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, जबकि अजीव तत्त्व स्वतन्त्र है, स्वाधीन है, अनादि है, और अनन्त है। उसका अस्तित्व अपने कारणों से है, जीव के कारणों से नहीं। सांख्य दर्शन की प्रकृति स्वतन्त्र, अनादि है, और अनन्त भी है, लेकिन वह एक ही है। अजीव तत्त्व एक नहीं है, उसके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। न्याय वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत परमाणु भी जैन दर्शन का परमाणु काफी भिन्न है। क्योंकि वहाँ पर पृथ्वी का परमाणु सदा पृथ्वी का ही रहता है, और जल का परमाणु कभी जल का और कभी अग्नि का भी हो सकता है। बौद्धों का पुद्गल भी जैनों के पुद्गल से मेल नहीं खाता। मीमांसा दर्शन में तत्त्व पर बहुत कम विचार किया है। मुख्य विचार कर्म का है। जैन दर्शन में तत्त्व विचार बहु आयामी, विस्तृत और गहन किया गया है।

विज्ञान और पुद्गल :

पाश्चात्य दर्शन में और विशेषतः विज्ञान में जिसको Matter कहा गया है, जैन दर्शन में उसको पुद्गल कहा जाता है। पुद्गल के चार गुण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श। पुद्गल की संख्या संख्यात, असंख्यात और अनन्त है। शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, भेद, अन्धकार, छाया, आलोक और ताप— ये सब पुद्गल के पर्याय हैं। शब्द, आलोक और ताप को पौद्गलिक मानने में जैनों के कतिपय अंशों में वर्तमान वैज्ञानिक शोध का आभास प्राप्त होता है। न्याय दर्शन को यह मान्यता स्वीकार नहीं है, कि अन्धकार और छाया पुद्गल की पर्याय विशेष हैं।

विज्ञान तथा धर्म-अधर्म :

धर्म और अधर्म, यहाँ पर पुण्य और पाप नहीं हैं। ये दोनों जैन दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। विशेष अर्थ है इन दोनों शब्दों का। धर्म का अर्थ है, गति में सहकारी और अधर्म का अर्थ है, स्थिति में सहकारी। जीव और पुद्गल में अपनी गति और अपनी स्थिति होती है। ये दोनों क्रियाएँ हैं। जिस प्रकार जल मत्स्य की गति में सहयोग करता है, उसे चलाता नहीं है उस प्रकार धर्म भी पुद्गल और जीव की गति में सहयोग करता है, उन्हें चलाता नहीं है। धर्म द्रव्य अमूर्त है, निष्क्रिय है, नित्य है और लोकव्यापी है। जिस प्रकार चलते पथिक की स्थिति में वृक्ष की छाया सहयोग प्रदान करती है, उसे ठहराती नहीं है, उसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी जीव और पुद्गल की स्थिति में सहयोगी बनता है। अधर्म अमूर्त है, निष्क्रिय है, नित्य है, और लोकव्यापी है। आज का विज्ञान जिसको ईथर कहता है, वह धर्म-अधर्म द्रव्य है।

विज्ञान और आकाश :

जो जीव और अजीव सबको अपने में समा लेता है, अपने में अवकाश एवं स्थान प्रदान करता है, वह आकाश द्रव्य कहा गया है। आज का विज्ञान इस तत्त्व को Space कहता है। आकाश अमूर्त, निष्क्रिय है, नित्य है, और लोक तथा अलोक दोनों में परिव्याप्त रहता है। अतः आकाश के दो भेद हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। अपने से भिन्न अन्य समस्त द्रव्यों का आश्रयभूत है, आधार है। इसका अन्य कोई आधार नहीं है, वह स्वप्रतिष्ठ ही है।

विज्ञान और काल :

जगत के समस्त पदार्थों के परिवर्तन का कारण काल द्रव्य होता है। द्रव्यों का परिवर्तन द्रव्यों में स्वयं होता है, पर काल द्रव्य, अन्य द्रव्यों के परिवर्तन में, रूपान्तरण में, निमित्त कारण होता है। काल अमूर्त है, नित्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और लोक-व्यापी है। वह दो प्रकार का है—निश्चय काल और व्यवहार काल। निश्चय समय रूप है, और अनन्त है। व्यवहार क्षण, पल, आवली, घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात्रि और अहोरात्र रूप होता है। पक्ष, मास, वर्ष और युग, इसके ही विभाग हैं। आज का विज्ञान काल को भी स्वीकार करता है, जिसको Time कहा जाता है।

आज के जड़ विज्ञान के मूल तत्त्व, इन पाँच अजीव तत्त्वों में विद्यमान हैं, उनके अनुसंधान की आवश्यकता है। प्राचीन ग्रीस से लेकर, आज के नवीनतम वैज्ञानिकों ने Atom परमाणु अथवा अणु की सत्ता को स्वीकार किया है। अणु अनन्त हैं, इस तथ्य को भी स्वीकार करते रहे हैं। इनके संयोग एवं वियोग के कारण ही जगत में स्थूल पदार्थ बनते और बिगड़ते हैं। इस विषय में सब वैज्ञानिक एक मत हैं। पुद्गल की सत्ता में विवाद नहीं है।

वैज्ञानिक पहले धर्म एवं अधर्म को नहीं मानते थे। परंतु न्यूटन ने गति तत्त्व के सिद्धान्त को स्थापित किया। जहाँ गति होगी, वहाँ स्थिति भी होगी। अतएव ईथर के नाम से एक तत्त्व को मान लिया गया। वह दोनों का काम करता है। कांट और हेगल आकाश को एक मानसिक व्यापार कहते थे, रसेल ने उसे एक तत्त्व के रूप में स्थापित कर दिखाया। काल को भी पहले तत्त्व नहीं माना गया, परन्तु फ्रांस के दार्शनिक बर्गसां ने काल को एक तत्त्व के रूप में स्थापित कर दिया।

विज्ञान और जीव :

एक नास्तिक दर्शन को छोड़कर शेष समस्त आस्तिक दर्शन जीव तत्त्व को स्वीकार ही नहीं करते, अपितु अपनी-अपनी अवधारणा के अनुसार उसके स्वरूप का भी प्रतिपादन करते हैं। उसका लक्षण तथा परिभाषा भी करते हैं। उसकी व्याख्या करते हैं। संख्या बतलाते हैं। भेद और प्रभेदों का भी वर्णन करते हैं। जैन दर्शन जीव की संख्या अनन्त मानता है। जीव का लक्षण उपयोग है। वह अमूर्त है। अपने कर्मों का कर्ता है। कर्मफल का भोक्ता है। स्व-देह परिमाण है। उर्ध्व गमनशील है।

प्राणी विज्ञान :

विज्ञान की एक शाखा है, प्राणी विज्ञान, जिसको Biology कहा जाता है। यह विज्ञान जैन दर्शन के प्राणी विज्ञान से अनेक अंशों में मेल खाता है। जैन सिद्धान्त पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानता है। एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—सूक्ष्म और स्थूल अथवा सूक्ष्म और बादर। आज के वैज्ञानिक लोग वनस्पति में चेतना स्वीकार करते हैं। भारत के महान् वैज्ञानिक जगदीश वसु ने इस विषय में गहन अध्ययन करके जो निष्कर्ष निकाला है, उससे समस्त देशों के वैज्ञानिक अपनी सहमति प्रकट करते हैं।

जैन दर्शन में स्वीकृत षड् द्रव्य का समन्वय, सर्व अंशों में नहीं, तो कुछ अंशों में, आज के विज्ञान से हो जाता है। भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान और मनोविज्ञान का अध्ययन करके प्राचीन सिद्धान्तों के साथ तुलना करने की आवश्यकता है। इस दिशा में विद्वानों ने कुछ प्रयत्न तो किया है, लेकिन वह अपर्याप्त है। जैन दार्शनिकों ने षड् द्रव्य की जो व्याख्या की है, वह वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कही जा सकती है।

दर्शन और तत्त्व :

दर्शन और तत्त्व का परस्पर में अत्यन्त गहन सम्बन्ध है। भारत के विचारक तत्त्व-ज्ञान को दर्शन कहते हैं। जीवन में तत्त्व-ज्ञान की परम आवश्यकता है। बिना तत्त्व-विद्या के साधना अधूरी है। अतएव भारत के तीर्थंकर, तथागत और ऋषि तो अति प्राचीन काल से तत्त्व-ज्ञान का उपदेश देते रहे हैं। जैन दर्शन द्रव्य, गुण और पर्याय की अभिन्नता एवं भिन्नता का प्रतिपादन करता है। परन्तु अपेक्षा विशेष से यह कथन है। परमार्थ के ज्ञाता, द्रव्य और गुण में अविभक्त अनन्यत्व भी स्वीकार नहीं करते, और विभक्त अन्यत्व भी नहीं मानते। लेकिन विभिन्न अपेक्षाओं से भेद और अभेद स्वीकार करते हैं। धनवान् होने के कारण मनुष्य धनी कहा जाता है, ज्ञानवान् होने से ज्ञानी। पर प्रथम पक्ष में धन, धनी से भिन्न है। दोनों में सम्बन्ध होने पर भी दोनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है। इसके विपरीत ज्ञान, ज्ञानी से भिन्न नहीं है। आकृति, संख्या और विषय से सम्बन्ध रखने वाला भेद, जिस प्रकार दो भिन्न वस्तुओं में हो सकता है, उस प्रकार अभिन्न वस्तुओं में भी सम्भव हो सकता है। जैसे कि देवदत्त का अश्व, यह व्यवहार परस्पर भिन्न दो वस्तुओं के विषय में है, किन्तु वृक्ष की शाखा, यह दो अभिन्न वस्तुओं के विषय में है। अतः कथंचित् भेद और कथंचित् अभेदवाद जैन दर्शन में स्वीकृत है।

गुण और पर्याय :

द्रव्य, गुण और पर्याय में परस्पर अन्यत्व तो है, परन्तु पृथक्ता नहीं है। भेद दो प्रकार का होता है—पृथक्त्व रूप एवं अन्यत्व रूप। प्रदेशों की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भिन्नता पृथक्त्व है और तद्रूपता न होना, अन्यत्व है। दुग्ध और उसकी धवलता एक ही वस्तु नहीं है, फिर भी दोनों के प्रदेश पृथक्-पृथक् नहीं है। दण्ड और दण्डी में, पृथक्त्व है, क्योंकि दोनों को पृथक् किया जा सकता है। लेकिन द्रव्य, गुण और पर्याय में, इस प्रकार का पृथक्त्व नहीं है। कारण, द्रव्य के बिना गुण एवं पर्याय नहीं रह सकते हैं। जैसे कि जीव देव होता है, मनुष्य होता है और पशु भी होता है। ये सब जीव की पर्याय हैं, इनमें उसका अपना जीवत्व नहीं बदलता।

अस्तिकाय और तत्त्व :

प्रत्येक दर्शन में उसके कुछ अपने विशिष्ट शब्द हैं, जिनको पारिभाषिक शब्द कहते हैं। जैन दर्शन में अस्तिकाय इसी प्रकार का एक शब्द है। भारत के अन्य दर्शन ग्रन्थों में इसका प्रयोग और उपयोग उपलब्ध नहीं होता। जैन दर्शन के ग्रन्थों में, बहुलता से इसका प्रयोग है। यह शब्द, दो शब्दों के योग से बना है—अस्ति और काय। अस्ति का यहाँ पर अर्थ होता है—प्रदेश और काय का यहाँ पर अर्थ है—समूह, समुदाय एवं प्रचय। प्रदेशों के प्रचय को अस्तिकाय यहाँ पर कहा गया है। उसके पाँच भेद होते हैं। अतः पञ्चास्तिकाय हो गया। षड् द्रव्यों में काल को छोड़कर, शेष पाँच अस्तिकाय हैं—

१. जीव अस्तिकाय
२. पुद्गल अस्तिकाय
३. धर्म अस्तिकाय
४. अधर्म अस्तिकाय
५. आकाश अस्तिकाय

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश— ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। जो पदार्थ अस्तित्व स्वभाव वाला हो, और वह अनेक प्रदेशी हो, वह अस्तिकाय होता है। ये पाँच द्रव्य असंख्य प्रदेश वाले हैं। काल द्रव्य अणु-रूप है। अतः उसके अनेक नहीं होते। काल के अणु पुद्गल आदि के अणुओं की भाँति आपस में एकमेक नहीं है, किन्तु रत्नों की राशि के समान एक-दूसरे से भिन्न हैं। अतएव काल एक ही प्रदेश वाला है। जीव की क्रिया में पुद्गल निमित्त है। पुद्गल की क्रिया में काल निमित्त होता है। आकाश द्रव्य लोक और अलोक में सर्वत्र व्याप्त है। धर्म और अधर्म द्रव्य लोक में रहते हैं। जीव और पुद्गल के आधार से काल द्रव्य भी समस्त लोक में परिव्याप्त है। क्योंकि काल द्रव्य के समय तथा घड़ी आदि परिणमन जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और पुद्गल की पर्यायों द्वारा ही प्रकट होते हैं, अन्यथा नहीं। परमाणु के प्रदेश नहीं होते। एक परमाणु जितने आकाश को घेरता है, आकाश का उतना भाग प्रदेश कहा जाता है।

अस्तिकाय की व्याख्या :

अस्ति का अर्थ विद्यमान भी होता है। यह अस्तित्व गुण समस्त द्रव्यों में पाया जाता है, अतः उनको अस्ति कहा गया है। काय शब्द 'चि उपचये' धातु से बना है। इसके अनुसार अनेक प्रदेशों के संचय अथवा समुदाय को काय कहते हैं। जिसमें ये दोनों बातें होती है, उसको अस्तिकाय कहते हैं। इस व्याख्या के अनुसार भी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं। काल द्रव्य अस्ति होते हुए भी काय अर्थात् बहु प्रदेशी नहीं है, किन्तु एक प्रदेशी है। वह काय नहीं हो सकता। उसे काय नहीं कहा गया है।

एक जीव में असंख्यात प्रदेश होते हैं, क्योंकि वह असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में फैला हुआ हो सकता है, जबकि केवली समुद्घात करते हैं। लोक में परिव्याप्त होने से धर्म तथा अधर्म भी असंख्यात प्रदेशी हैं। अलोकाकाश अनन्त प्रदेशी है। पुद्गल के दो भेद हैं—अणु और स्कन्ध। पुद्गल के अविभागी अंश को अणु कहते हैं। वह एक प्रदेशी होता है। पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हो सकता है। काल द्रव्य के कालाणु एक-एक प्रदेश हैं, वे परस्पर सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होते। अनेक कालाणुओं का एक स्कन्ध नहीं बनता। अतः वह बहु प्रदेशी भी नहीं हो सकता। अतः काल की अस्तिकाय द्रव्यों में परिगणना नहीं की जाती। यद्यपि पुद्गल का एक परमाणु, एक प्रदेशी ही है, तथापि वह अनेक प्रदेशों के धारक नाना प्रकार के स्कन्धों से मिलने के कारण बहु-प्रदेशी कहा जाता है। अनेक कालाणु मिलकर एक स्कन्ध नहीं बन सकते। क्योंकि कालाणुओं में स्निग्ध-रूक्ष गुण नहीं पाए जाते, क्योंकि वे अमूर्त हैं। अतः काल को कायवान् अर्थात् बहु प्रदेशी नहीं माना है। पुद्गल का एक परमाणु आकाश के जितने क्षेत्र को घेरता है, उतने क्षेत्र को प्रदेश कहा गया है। प्रदेश अपने प्रदेशी से कभी अलग नहीं होता है, जबकि परमाणु अपने स्कन्ध से मिलता-बिछुड़ता रहता है। यही प्रदेश और परमाणु में अन्तर है।

काल द्रव्य :

काल द्रव्य अगुरु-लघु है, अमूर्त है। अन्य द्रव्यों के परिणमन में निमित्त होना, उसका लक्षण है। जिस प्रकार कुम्भकार के चाक के नीचे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की कील चाक की गति में सहकारी तो होती है, लेकिन गति में कारण नहीं होती, उस प्रकार काल द्रव्य, अन्य द्रव्यों के परिणमन में निमित्त भर होता है, कारण नहीं होता। व्यावहारिक काल गणना, यद्यपि जीव और पुद्गल के परिणमन पर ही आधार रखती है, परन्तु काल द्रव्य स्वयं, जीव और पुद्गल के परिणमन में कारणभूत है। व्यवहार काल क्षणभंगुर है, और निश्चय काल अनश्वर है। दिवस, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर आदि काल के विभागों की परिकल्पना अन्य द्रव्यों के परिणमन से की जाती है। काल को भारत के अन्य दर्शनों ने भी स्वीकार किया है। केवल वेदान्त ही काल को मिथ्या मानता है।

पुद्गल द्रव्य :

पुद्गल के चार प्रकार है—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। सम्पूर्ण पिण्ड स्कन्ध होता है। उसका आधा भाग स्कन्ध देश होता है। उसका आधा भाग स्कन्ध प्रदेश होता है। जिसका दूसरा विभाग न हा सके, उस निरंश अंश को परमाणु कहा गया है। स्कन्ध के दो प्रकार होते हैं—बादर और सूक्ष्म। बादर वह होता है जो इन्द्रियों के गोचर हो सके। जो इन्द्रिय गोचर नहीं होता वह सूक्ष्म कहा जाता है। पुद्गल के छह वर्ग हो जाते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. बादर-बादर
२. बादर
३. सूक्ष्म बादर
४. बादर सूक्ष्म
५. सूक्ष्म
६. सूक्ष्म-सूक्ष्म

क) जो एक बार टूटने के बाद में जुड़ न सके। जैसे---काष्ठ एवं प्रस्तर।

(ख) टूट कर अलग होने के बाद में जुड़ जाने वाला। जैसे—जल, घृत, तेल।

(ग) जो देखने में स्थूल हो, पर जिसको तोड़ा-फोड़ा न जा सके, जो किसी के पकड़ में न आ सके। धूप एवं प्रकाश।

(घ) सूक्ष्म होते हुए भी जो इन्द्रिय गम्य होता है। जैसे रस, गन्ध एवं स्पर्श।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(ङ) जो पुद्गल इतना सूक्ष्म हो, कि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण न किया जा सकता हो। जैसे कि कर्म-वर्गणा।

(च) अति सूक्ष्म. जैसे कर्म-वर्गणा से नीचे के द्वि-अणुक पर्यन्त पुद्गल स्कन्ध।

परमाणु की व्याख्या :

स्कन्धों का अन्तिम विभाग—जिसका विभाग न हो सके, परमाणु कहा जाता है। वह शाश्वत है, परिणामी नित्य है। मूर्त है। रूप, रस, स्पर्श और गन्ध—ये चार गुण उसमें होते हैं। ये सभी गुण एक प्रदेश में रहते हैं। परमाणु पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—इन चार धातुओं का कारण है। पृथ्वी आदि के परमाणु मूल रूप में भिन्न-भिन्न नहीं है, जैसा कि वैशेषिक दर्शन मानता है। जैन दर्शन में, एक रस, एक वर्ण, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं। इन परमाणुओं में से चिकना परमाण और रूखा परमाणु मिलकर द्वि-अणुक बनता है, और इसी प्रकार त्रि-अणुक आदि स्कन्ध बन जाते हैं। दो अंश स्निग्ध वाला अणु चार अंश स्निग्धता वाले दूसरे अणु के साथ मिल सकता है। तीन अंश रूक्षता वाला अणु पाँच अंश रूक्षता वाले अणु के साथ मिल सकता है।

जीव द्रव्य :

जीव दो प्रकार के हैं—संसारी और मुक्त। दोनों ही प्रकार के जीव अनन्त हैं। वे सभी चेतनावान् हैं. उपयोगवान् हैं। संसारी सदेह हैं और मुक्त अदेह हैं। संसार में रहने वाले जीवों के दश प्राण हैं। जो इन प्राणों से जोवित था, जीवित है और जीवित रहेगा, वह जीव है। ये दश प्राण हैं—

१. मनोबल
२. वचन बल
३. काय बल
४. स्पर्शन
५. रसन
६. घ्राण
७. नेत्र
८. श्रोत्र
९. आयुष्
१०. श्वास-प्रश्वास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दश प्राणों में तीन बल कहे जाते हैं। पाँच इन्द्रियाँ है। एक आयुष् कर्म है। अन्दर के पवन का बाहर आना, और बाहर के पवन का अन्दर आना—श्वास-प्रश्वास है। ये दश प्राण संसारी जीव के होते हैं। अतः ये द्रव्य प्राण हैं। सिद्धों के भाव प्राण होते हैं, जो ज्ञान एवं दर्शन रूप होते हैं।

जीव असंख्यात प्रदेश वाले होते हैं, अथवा जीव असंख्यात प्रदेशी होता है। वह लोक के एक भाग में भी रह सकता है, और समस्त लोक को व्याप्त करके भी रह सकता है। यदि पद्मराग मणि को दूध में डाल दिया जाए, तो वह उस समस्त दूध को प्रकाशित कर देता है। क्योंकि वह दुग्ध-परिमाण हो गया है, उस प्रकार जीव जिस देह में रहता है, उतना ही विस्तृत हो जाता है। अतः जीव में संकोच-विस्तार का गुण माना है। यद्यपि जीव अपने गृहीत शरीर से अभिन्न जैसा लगता है, तथापि जीव और देह, वस्तुतः भिन्न हैं। अपने अशुद्ध परिणामों के कारण कर्म रज से मलिन बनकर, जीव अपने आपको शरीर से अभिन्न मान लेता है। यही तो जीवन का बन्धन कहा जाता है।

जीव के भेद :

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है। जीव के मूल भेद दो हैं—संसारी और मुक्त। मुक्त जीवों में किसी प्रकार का भेद नहीं होता, सभी समान गुण वाले होते हैं। किन्तु संसारी जीवों में अनेक भेद एवं प्रभेद होते हैं। जैसे नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। नरक में रहने वाले नारक, स्वर्ग में रहने वाले देव, मध्य लोक में रहने वाले मनुष्य एवं तिर्यंच। नारक, देव और मनुष्य से जो भिन्न हैं, वे सब तिर्यंच हैं, जैसे कि पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय जीव तथा कीड़े-मकौड़े आदि प्राणी। जैन-शास्त्रों में इन सभी जीवों की गति, योनि जन्म, शरीर और प्राण आदि का विस्तार से वर्णन उपलब्ध होता है, लघु ग्रन्थों में तथा विशालकाय ग्रन्थों में। जैन धर्म का जीव विज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है।

जैन दर्शन जीव बहुत्ववादी है। वह प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है। यदि संसार में सभी जीव एक होते, भिन्न-भिन्न नहीं होते, तो एक जीव के सुखी होने से सभी जीव सुखी होते। एक जीव के दुःखी होने से सभी दुःखी होते। एक के बद्ध होने से सभी बद्ध होते। एक के मुक्त होने पर सभी मुक्त हो जाते। उस स्थिति में न तो संसार रह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाता और न मोक्ष ही रह पाता। पुण्य-पाप का भी प्रयोजन न रह पाता। साधना का और आचार की अवधारणा भी न रहती। अतः जीव अनन्त हैं, और सब का जीवन भिन्न-भिन्न है। क्योंकि समस्त जीवों का कर्म अलग-अलग है। उन कर्मों का फल भी अलग-अलग है।

अध्यात्म और तत्त्व।

भारत में दर्शन-शास्त्र को तत्त्व-विद्या कहा गया है। भारत के प्रत्येक सम्प्रदाय ने अपनी अवधारणा के अनुसार तत्त्व की व्यवस्था की है। तत्त्व शब्द का अर्थ है—तस्य भावं तत्त्वम्। सत्ता-सून्य कल्पना-प्रसूत वस्तु को तत्त्व नहीं माना जाता, सद्भूत वस्तु को ही तत्त्व माना जा सकता है। जैन दर्शन असत् से सत् की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करता। अभाव से भाव कभी नहीं हो सकता। जैन दर्शन के अनुसार तत्त्व अध्यात्म साधना का एक प्रधान अग माना गया है। अध्यात्म साधना की दृष्टि से जीव और जड़ का भेद-विज्ञान आवश्यक है। इसके लिए जीव और पुद्गल का परस्पर में संयोग-वियोग का और उसके कारणों का अवबोध भी परम आवश्यक माना गया है। जैन तत्त्व ज्ञान की आधार-शिला यही रही है।

तत्त्व संख्या :

संक्षेप और विस्तार की अपेक्षा से मुख्य रूप में, तत्त्वों की व्यवस्था और संख्या इस प्रकार से वर्णित की है—

१. तत्त्व के दो भेद—जीव एवं अजीव।

२. तत्त्व के सात भेद—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इसमें पुण्य एवं पाप को तिरोहित कर दिया गया है। क्योंकि उन दोनों की परिगणना आस्रव तथा बन्ध में हो जाती है।

३. तत्त्व के नव भेद—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इसमें पुण्य और पाप को अलग मान लिया गया है। दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है।

नव पदार्थ :

१. जीव	चेतनावान्, उपयोगवान् प्राणवान्।
२. अजीव	अचेतन, अनुपयोगवान्, प्राण-शून्य।
३. पुण्य	सुख का हेतु।
४. पाप	दुःख का हेतु।
५. आस्रव	नूतन कर्म आने का द्वार।
६. संवर	आस्रव का निरोध।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. निर्जरा अंशतः कर्म का क्षय।
८. बन्ध जीव और कर्म का सम्बन्ध।
९. मोक्ष कर्म का आत्मा से सर्वथा क्षय।

जैन दर्शन के अनुसार मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है—अनन्त एवं अव्याबाध रूप सुख उसकी प्राप्ति समस्त कर्मों के सर्वथा क्षय से होती है। मोक्ष में न जन्म है, और न मरण है। किसी प्रकार की बाधा वहाँ है, नहीं। वहाँ तो एकान्त सुख ही सुख है। अतः अध्यात्म साधना के लिए चार तत्त्व आवश्यक हैं—

१. मोक्ष मोक्ष के स्वरूप को समझो।
२. मोक्ष उपाय मोक्ष के साधनों का विचार।
३. बन्ध बन्ध दुःख रूप है।
४. बन्ध हेतु का अभाव उसके कारण को दूर करो।

सप्त तत्त्व :

जैन परम्परा के ग्रन्थों में तत्व का वर्गीकरण, सप्त तत्व और पदार्थ के रूप में भी होता रहा है। आगमों में नव पदार्थ एवं नव तत्व की परंपरा प्रसिद्ध है, लेकिन दार्शनिक ग्रन्थों में सप्त तत्व प्रख्यात हैं—

१. जीव
२. अजीव
३. आस्रव
४. बन्ध
५. संवर
६. निर्जरा
७. मोक्ष

कुछ ग्रन्थों में सप्त तत्त्व का कथन प्रधानतया किया गया है। क्योंकि पुण्य और पाप—दोनों ही मोक्ष की साधना में उपयोगी नहीं हैं। दोनों बन्धन रूप होते हैं। आस्रव में भी इनकी गणना की जाती है। जैसे कि शुभ बन्ध और अशुभ बन्ध। शुभ आस्रव और अशुभ आस्रव। सात तत्त्वों में जीव और अजीव ज्ञेय हैं, आस्रव और बन्ध हेय हैं, संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय तत्त्व माने जाते हैं।

सप्त तत्त्वों का क्रम :

संसार और मोक्ष जीव के होते हैं। अजीव के नहीं होते। अतः सर्व-प्रथम जीव तत्त्व कहा है। अजीव के निमित्त से ही जीव, संसार या मोक्ष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याय को प्राप्त होता है। इसलिए जीव के बाद अजीव का कथन किया है। जीव और अजीव के निमित्त से ही आस्रव होता है। अतः दोनों के बाद आस्रव कहा गया है, आस्रव के बाद बन्ध होता है। बन्ध को रोकने वाला संवर है। जो जीव आगामी कर्मों का संवर कर लेता है, उसके पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा के बाद ही मोक्ष होता है। अतएव सबके अन्त में, मोक्ष होता है।

नव तत्त्वों के अवान्तर भेद :

तत्त्व	भेद
१. जीव	१४
२. अजीव	१४
३. पुण्य	४२
४. पाप	८२
५. आस्रव	४२
६ संवर	५७
७. निर्जरा	१२
८. बन्ध	४
९ मोक्ष	४

इन नव तत्त्वों में, जीव और अजीव ये दो ज्ञेय हैं। केवल जानने के योग्य हैं। इनको जानो और समझो। इनके स्वरूप को तथा लक्षण को जानो। ये दोनों प्राप्ति एवं अप्राप्ति के विषय नहीं हैं, केवल ज्ञप्ति के विषय हैं। अतएव ये दोनों ज्ञेय मात्र हैं। नव तत्त्वों में पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध—ये चारों हेय हैं। छोड़ने के योग्य हैं, त्यागने के योग्य हैं। इनके परित्याग में, आत्मा का कल्याण हैं। इनके परिग्रह में अकल्याण है। अतः इनको दूर कर दो। नव तत्त्वों में, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये तीनों उपादेय हैं। ग्रहण करने के योग्य हैं। इनको जीवन में उतारने का सतत प्रयास करते रहो। यही है, साधक की साधना का मूल बीज। आस्रव से संवर, संवर से निर्जरा और अन्त में लक्ष्यभूत मोक्ष।

न्याय-शास्त्र में :

न्याय-शास्त्र में, ज्ञातव्य वस्तु का विषय विभाग इस प्रकार किया गया है—

१. पदार्थ
२. तत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. द्रव्य

४. अस्तिकाय

ज्ञाता ज्ञान से ज्ञेय को जानता है। प्रमाता प्रमाण से प्रमेय को जानता है। संसार की प्रत्येक वस्तु ज्ञेय है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय है। जो ज्ञान का विषय होता है, वह तो अवश्य ज्ञेय होता है। जैसे घट, पट और भवन आदि जड़ वस्तु तथा मनुष्य, पशु एवं पक्षी आदि चेतन वस्तु। यह संसार जड-चेतनात्मक है। अतः ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और ज्ञप्ति—इन चारों को समझना एवं जानना आवश्यक है।

ज्ञाता जीव है, ज्ञान उस का गुण है, ज्ञेय जड़-चेतन वस्तु है। ज्ञप्ति ज्ञान रूप करण का फल है। न्याय-शास्त्र में, इस तथ्य को प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमा कहा गया है। जीव प्रमाता है, प्रमाण उसका गुण है, जगत को जड़-चेतन वस्तु प्रमेय है। प्रमा, प्रमाण रूप करण का फल है। न्याय-शास्त्र का नियम है, कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के आधीन होती है। अतएव प्रत्येक सम्प्रदाय की अपनी ज्ञान-मीमांसा, अपनी प्रमाण-मीमांसा और अपनी तत्त्व-मीमांसा होती है। सबके ज्ञेय और प्रमेयों की संख्या भी अलग-अलग होती है। जैन दर्शन में भी अपनी प्रमाण-व्यवस्था और प्रमेय व्यवस्था है। जैन ग्रन्थों में, पदार्थ और अर्थ, दोनों का एक अर्थ है। परन्तु अधिकतर तत्त्व और द्रव्य का प्रयोग उपलब्ध होता है। अस्तिकाय शब्द का बहुत कम प्रयोग देखा जाता है। वैशेषिक दर्शन में सप्त पदार्थ प्रसिद्ध हैं। मीमांसा दर्शन में अर्थ शब्द का तथा सांख्य में तत्त्व शब्द का प्रयोग है।

अध्यात्म-शास्त्र :

अध्यात्म-शास्त्र में, नव पदार्थों का वर्णन व्यवहार नय और निश्चय नय की दृष्टि से किया गया है। आगम वाङ्मय में व्यवहार और निश्चय, दोनों का उल्लेख उपलब्ध है। किन्तु बाद के कुछ जैन आचार्यों ने व्यवहार की अपेक्षा निश्चय पर अधिक बल दिया है। उन्होंने अपने युग की स्थिति, स्थान और काल को देखकर, वैसा किया होगा। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर तथा आचार्य कुन्द कुन्द, इस विषय में प्रमुख माने जाते हैं। दोनों में अन्तर यही है, कि एक तार्किक है, दूसरे आध्यात्मिक हैं। अध्यात्म दृष्टि से नव पदार्थ का वर्णन इस प्रकार है—

जीव :

व्यवहार नय से जो शुभ एवं अशुभ कर्मों का कर्ता भी है, और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भोक्ता भी है। निश्चय नय से जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप निज गुणों का ही कर्ता है, और भोक्ता है। जो दुःख तथा सुख का वेदक है। जो चेतनावन्त है, और जो उपयोगवान है, उसे जिन भगवान ने जीव कहा है। जो द्रव्य और भाव प्राणों को धारण करता है, वह जीव है। जो जीवित था, जो जीवित है, और जो जीवित रहेगा, वह जिन शासन में जीव कहा जाता है।

अजीव :

जिस में ये लक्षण उपलब्ध नहीं होते, वह अजीव है। जो उपयोग-शून्य है, जिसमें चेतना नहीं है, वह अजीव है। जो दुःख तथा सुख का वेदक नहीं है, वह जिन शासन में अजीव कहा गया है। जिसमें न ज्ञान हो, न दर्शन हो और न चारित्र हो—जिन भगवान ने उसे अजीव कहा है। अजीव प्राणवन्त नहीं होता है। अजीव में द्रव्य प्राण तथा भाव प्राण नहीं होते। अजीव का अर्थ है—अचेतन, जड़।

पुण्य :

जिस के कारण से जीव, शुभ कर्म के पुद्गलों का संचय करता है, वह पुण्य होता है। जिसके उदय से जीव को सुख की अनुभूति हो, वह पुण्य कहा जाता है, पुण्य से सुख का वेदन होता है।

पाप :

जिसके कारण से अशुभ कर्म के पुद्गल संचय होता है, वह पाप होता है। जिस के उदय से जीव को दुःख की अनुभूति हो, वह पाप कहा जाता है, पाप से दुःख का वेदन होता है।

आस्रव :

जो नूतन कर्मों के बन्ध में कारणभूत होता है, जो नूतन कर्मों के प्रवाह के आने का द्वार बनता है, जिन-शास्त्र में उसे आस्रव कहा जाता है। जो अशुभ एवं शुभ कर्मों के उपादान में हेतु भूत है, जिन भगवान ने उसको आस्रव कहा है, कर्म-रज का आना कहा है।

संवर :

जिसके कारण अभिनव कर्मों के आने का द्वार बन्द हो जाता है, वह संवर होता है। आस्रव के निरोध को जिन-शास्त्र में संवर कहा गया है। संवर से कर्मों के प्रवाह के द्वार का अवरोध हो जाता है, जिससे कर्म-प्रवाह अन्दर आत्मा में प्रवेश नहीं कर पाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बन्ध :

नवीन कर्मों का ग्रहण करके उनका जीवों के साथ संबद्ध हो जाना, बन्ध है। पुरातन कर्मों का नवीन कर्मों का बन्ध होता है, लेकिन जीव उनसे बंध जाता है। यह बन्ध कैसे होता है। जैसे नीर और क्षीर परस्पर मिल करके एकमेक हो जाते हैं। जीव और कर्म भी परस्पर मिल करके एक-दूसरे से संबद्ध हो जाते हैं। इसमें आत्मा स्वतन्त्र नहीं रहता। यही बन्ध है।

निर्जरा :

जिस क्रिया से अथवा जिस उपाय से आत्म-प्रदेशों के साथ बद्ध कर्म दलिक अथवा कर्म परमाणु एक देश से अंश रूप से आत्मा से अलग हो जाता है, वह निर्जरा है। तप के द्वारा कर्म आत्मा से पृथक् हो जाता है। अतः तप निर्जरा है। तप को निर्जरा का कारण भी कहा जाता है।

मोक्ष :

मोक्ष आत्मा के शुद्ध स्वरूप को कहते हैं। आत्म-प्रदेशों से कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना मोक्ष है। कर्म-फल से शून्य हो जाने पर, वह मुक्त हो जाता है। कर्म के तीन रूप होते हैं—संचित कर्म, क्रियमाण कर्म, और प्रारब्ध कर्म। तीनों का क्षय हो जाने पर ही मोक्ष होता है। अत वह आत्मा का शुद्ध स्वरूप कहा जाता है।

मोक्ष के उपाय :

मोक्ष के साधन को उपाय अथवा मार्ग कहा गया है। उपाय तीन हैं—

१. सम्यग्दर्शन
२. सम्यग्ज्ञान
३. सम्यक् चारित्र

जैन दर्शन में नव पदार्थ है, न कम और न अधिक। जीव जिन भाषित तत्वों पर जो श्रद्धान करता है, वह दर्शन है। तत्वों का जो बोध करता है, वह ज्ञान है। व्रतों का ग्रहण और पालन करना ही चारित्र होता है। अतः इन तीनों को मोक्ष का उपाय, मार्ग और साधन कहा जाता है। तीनों को मिलाकर मोक्ष-मार्ग कहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन
की
कर्म तत्व मीमांसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म-तत्व-मीमांसा

सुख एवं दुःख, हानि तथा लाभ, जीवन और मरण, यश अथवा अपयश—ये सब कर्म के फल हैं। संसार-चक्र सदा घूमता रहता है। बीज से अकुर, अंकुर से फल और फल से फिर बीज। कर्म, कर्म से बन्ध, बन्ध से सुख-दुःख का भोग। पुनः पुनः जन्म, फिर-फिर मरण। प्रयत्न करने पर भी हानि, न करने पर भी कभी लाभ। भला करने पर भी अपयश, और बुरा करने पर भी कभी यश। विचित्र कथा है, कर्म की। विश्व की विविधता का, विचित्रता का आधार कर्म ही है। प्रत्येक धर्म में, सम्प्रदाय में, मत में किसी न किसी रूप में कर्म की सत्ता को स्वीकार किया है।

मनुष्य का वर्तमान जीवन, उसके अतीत का प्रतिबिम्ब है, और अनागत का आलोक। एक ही माता-पिता के चार पुत्र भिन्न-भिन्न स्वभाव के क्यों हो जाते हैं। क्योंकि सबके संस्कार अलग-अलग हैं। संस्कार ही तो कर्म हैं। क्रिया होकर समाप्त हो जाती है, लेकिन वह अपना प्रभाव एवं प्रताप, अपने कर्ता के जीवन-पर अंकित कर जाती है। यह अंकन ही संस्कार है, संस्कार ही कर्म है। कर्म बिना कर्ता के कभी होता नहीं। कर्ता की हर हल-चल कर्म बन जाती है। वह हल-चल शरीर में हो, वाणी में हो, मन में हो। तीनों के स्पन्दन में यदि राग, द्वेष, मोह तथा अज्ञान का चेप उत्पन्न हो जाए, तो वह हरकत कर्म बन जाती है। चेप है, कषाय। चेप है, संक्लेश। अतः कषाय का योग मिल जाने पर, शरीर, वाणी और चित्त की क्रिया कर्म रूप में परिणत हो जाती है। क्रिया जीव की भी होती है, और अजीव की भी।

जीव और अजीव :

जैन दर्शन में प्रख्यात सप्त तत्वों में, नव पदार्थों में, षड् द्रव्यों में और पञ्च अस्तिकायों में, जीव-अजीव प्रधान हैं। क्योंकि ये दोनों क्रियावान हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये चारों निष्क्रिय हैं। ये चारों एक-एक हैं। जीव और अजीव के अनेक भेद हैं, उनमें से एक भेद पुद्गल है। जीव कर्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, वह कभी कर्म नहीं बन सकता। अधर्म, धर्म, आकाश और काल, इन में भी कर्म बनने की योग्यता नहीं है। कर्म रूप में परिणत होने की योग्यता एकमात्र पुद्गल में है। समस्त पुद्गल भी कर्म नहीं बनता, केवल उसी पुद्गल परमाणु की कर्म संज्ञा हो जाती है, जो आत्म-संबद्ध होता है। आत्म-संबद्ध परमाणु-पुञ्ज को कार्मण शरीर कहा गया है। यही सूक्ष्म शरीर, अन्य स्थूल शरीर का, इन्द्रिय का और मन का जन्मदाता होता है। अन्य दर्शनों में कार्मण शरीर को लिंग शरीर कहा जाता है। संसार-चक्र का मूल हेतु यही है। समस्त विकारों की, विषयों की और विकल्पों की जड़ भी यही है। किसी वृक्ष की जड़ जब तक हरी-भरी है, तब तक उस पर पत्र, पुष्प और फल उत्पन्न होते ही रहेंगे। जड़ के सूख जाने पर न पत्र हैं, न फूल हैं, न फल हैं। यही स्थिति संसार और कार्मण शरीर को समझो।

संसार-चक्र है, क्या ? जीव और पुद्गल का परस्पर संयोग, जैसा कि नीर एवं क्षीर में होता है, अयोगोलक में तथा अग्नि में होता है। मोक्ष क्या है ? दोनों का वियोग। जीव, मात्र जीव रह जाए। कर्म मात्र पुद्गल हो जाए। फिर संसार का चक्र कैसे घूम सकता है। जीव हो गया निर्विकार, निर्विषय तथा निर्विकल्प। यही स्थिति है, परम सुख की, परम शान्ति की, परम आनन्द की। तीर्थंकरों की देशना का सार-तत्व भी यही है, कि पहले समझो, जानो, कि बन्धन क्या, कितना है, कैसा है ? फिर उस को तोड़ने का पुरुषार्थ करो। जोड़ने में पुरुषार्थ किया है, तो उसको तोड़ने में भी करो।

जीव, कर्म और परमात्मा :

भारत के समस्त दर्शन ग्रंथों में तीन तत्त्वों पर मुख्य रूप से विचार किया है, विद्वानों ने—जीव, कर्म और परमात्मा। जीव की सत्ता अनादि-अनन्त है। परन्तु उसकी तीन अवस्थाएँ हैं—शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध। अपने स्वभाव से जीव शुद्ध है, पर कर्म के साथ संयोग हो जाने के कारण वह अशुद्ध हो जाता है। कर्म कट जाए, तो शुद्ध है। परमात्मा परम शुद्ध है। वह सादि अनन्त है। क्योंकि संसारी दशा में जीव अशुद्ध होता है। मुक्ति दशा में वह शुद्ध है। अशुद्धि का कारण कर्म वहाँ पर है, नहीं। कर्म की भी अपनी एक सत्ता है। वह तो सादि-सान्त है। व्यक्तिशः कर्म सादि-सान्त है, लेकिन प्रवाह रूपेण कर्म अनादि सान्त है और अनादि-अनन्त भी रहा है। अभव्य जीव का कर्म अनादि-अनन्त है। क्योंकि उसकी कर्म-ग्रन्थि कभी खुलती नहीं। भव्य जीव का कर्म सादि-सान्त है। वह उत्पन्न हुआ है, तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी न कभी उसका अन्त भी होगा। जैन दर्शन की अवधारणा है, कि भव्य वह होता है, जिसमें मोक्ष जाने की योग्यता हो, जिस जीव में योग्यता न हो, तो वह अभव्य होता है। अपने विकार, विकल्प एवं विषय को जीतकर, प्रत्येक आत्मा, परमात्मा बन सकता है। कर्म-ग्रन्थि को तोड़ने भर की देर है।

जैन दर्शन में, जीव और कर्म के संयोग की एक विशेष पद्धति रही है, एक विशेष प्रक्रिया रही है। इस पद्धति को आस्रव एवं बन्ध कहा जाता है। कर्म सूक्ष्म पुद्गल परमाणु-पुञ्ज के रूप में होते हैं। उनका जीव की ओर आना आस्रव है, और कर्म पुद्गलों का तथा जीव का एक-दूसरे में आश्लेष हो जाना, बन्ध कहलाता है। जैसे स्नेह-सिक्त शरीर पर धूलि-कणों का आना और फिर चिपक जाना। बन्ध तत्त्व, मोक्ष तत्त्व का भावात्मक विरोधी तत्व है, उसके चार भेद होते हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। प्रकृति बन्ध के आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष, नाम, गोत्र और अन्तराय। स्थिति बन्ध, जीव के साथ कर्म पुद्गलों के रहने के समय को कहा गया है। अनुभाग बन्ध, कर्मों के फल-भोग को कहते हैं। विपाक भी कहते हैं। प्रदेश बन्ध का अर्थ है, जीव के प्रदेशों पर कर्म-परमाणुओं की संख्या अनन्तानन्त कर्म-परमाणुओं को जीव ग्रहण करता है, इसको कर्म दलिक कहा गया है। कर्म बन्ध का हेतु है, आस्रव। आस्रव का परिणाम है, बन्ध। संवर और निर्जरा मोक्ष के हेतु हैं मूल तत्त्वों के परिज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। तत्त्वों के अपरिज्ञान से तथा अनाचरण से जीव बन्ध में पड़ जाता है।

बौद्ध दर्शन :

बौद्ध विद्वानों ने कषाय-प्रेरित कर्मों को बन्धन का कारण माना है। मानसिक, वाचिक और कायिक—ये तीनों प्रकार के कर्म विपाक द्वादश निदान के अन्तर्गत आते हैं। वैभाषिक बौद्धों ने कर्म के दो भेद स्वीकार किए हैं—चेतना और चेतनाजन्य। चेतना में मानसिक कर्मों का तथा चेतनाजन्य में वाचिक और कायिक कर्मों का समावेश होता है। चेतनाजन्य कर्म भी दो प्रकार के होते हैं—विज्ञप्ति एवं अविज्ञप्ति। जिन कर्मों का फल प्रकट रूप में होता है, वे विज्ञप्ति कर्म होते हैं। अविज्ञप्ति कर्म अदृष्ट रूप में रहते हैं, और कालान्तर में अपना फल प्रदान करते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन :

न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म का रूप है, अदृष्ट।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म के स्थान पर वहाँ अदृष्ट शब्द का प्रयोग किया है। अदृष्ट का अर्थ है —पुण्य एवं पाप, अथवा शुभ और अशुभ कर्मों का वह समुदाय जो समयानुकूल फल प्रदान करता है। यही है, संसार के चक्र की वह स्थिति जिसको बन्ध कहा गया है। क्योंकि प्रत्येक जन्म में कर्म करने से वर्तमान तथा अनागत जन्मों में फल-भोग का चक्र नित्य-निरन्तर चलता रहा है, जिसको षोडश पदार्थों के तथा द्वादश प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से रोका जा सकता है। यही है, अपवर्ग तथा मोक्ष। संसार के कारण चार हैं—राग, द्वेष, मोह और प्रवृत्ति। तत्त्वज्ञान से इनका अभाव हो जाता है। वैशेषिक दर्शन में पाँच कर्म स्वीकृत हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन। कर्म के अन्य प्रकार से दो भेद होते हैं— सत्प्रत्यय तथा असत्प्रत्यय। प्रयत्न-जन्य कर्म सत्प्रत्यय कहा जाता है, और अप्रयत्न जन्य कर्म असत्प्रत्यय कहा गया है।

सांख्य-योग दर्शन :

योग-सूत्र के व्याख्याकारों ने योगी और अयोगी के भेद से कर्म का विभाजन किया है। पुण्य या शुभ कर्म शुक्ल और पाप या अशुभ कर्म कृष्ण कहलाता है। योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण होते हैं। उनसे योगी को संसार का बन्धन नहीं होता। अयोगी के कर्म तीन हैं—शुक्ल, कृष्ण एवं शुक्ल-कृष्ण। अतः वे बद्ध जीव कहे जाते हैं। कर्मों का मूल कारण संक्लेश है। कर्मों से क्लेश एवं क्लेशों से कर्म उत्पन्न होते हैं। कर्म, वासना, आशय एवं संस्कार ये शब्द पर्याय वाचक हैं, सबका एक ही वाच्य है।

सांख्य दर्शन भी भारत का प्राचीन दर्शन रहा है। इसमें पच्चीस तत्त्वों की मान्यता रही है, लेकिन मुख्य रूप में दो ही तत्त्व हैं —पुरुष और प्रकृति। पुरुष है, चेतन। प्रकृति है, जड़। दोनों का अनादि काल से संयोग है। यह संयोग ही तो सांख्य में संसार कहा गया है। भेद विज्ञान से प्रकृति-पुरुष का वियोग हो जाता है। यही है, अपवर्ग अथवा मोक्ष। सांख्य दर्शन ज्ञान प्रधान दर्शन है। पुरुष भोक्ता है। प्रकृति कर्ता है। पुरुष निष्क्रिय तथा निर्लेप है। बन्धन प्रकृति का होता है। पुरुष को न बन्धन है, और न मोक्ष है। जब बन्धन ही नहीं, तो मोक्ष किसका ? सांख्य दर्शन में कर्म नहीं, उसके स्थान पर प्रकृति को माना गया है। क्रिया प्रकृति में मानी है, पुरुष तो कूटस्थ नित्य है।

मीमांसा-दर्शन :

मीमांसा दर्शन का प्रधान विषय है— यज्ञ, होम तथा वेद विहित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुष्ठान कर्म। उसके अनुसार वेद विहित कर्म, धर्म है। वेद निषिद्ध कर्म, अधर्म है। वेद विहित कर्म चार प्रकार का माना गया है—नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध कर्म। मीमांसक विद्वानों का मत है, कि धर्म का परिपालन अवश्य ही करना चाहिए, क्योंकि धर्म करने वाले को फल की प्राप्ति अवश्य होती है। वह धर्म क्या है? उनका उत्तर है, कि यज्ञ कर्म और होम कर्म। कर्म क्रिया रूप होता है, क्रिया कुछ क्षणों में नष्ट हो जाती है। इस लोक में कृत कर्म से एक अदृष्ट शक्ति प्रकट होती है, इस शक्ति को मीमांसा-शास्त्र में, अपूर्व कहा गया है। जन्मान्तर में यही कर्म का फल प्रदान करता है। मीमांसा दर्शन के परम पण्डित कुमारिल भट्ट ने भोगायतन, भोग-साधन और भोग्य विषय—इन त्रिविध बन्धनों को जीव के भव-बन्धन का कारण कहा है। भोगायतन है शरीर। भोग-साधन है, इन्द्रियाँ। भोग के विषय हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द। अज्ञानवश जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता है।

वेदान्त दर्शन :

वेदान्त को अद्वैत दर्शन कहा है। अद्वैत का अर्थ है—जहाँ पर दो तत्त्व नहीं, एक ही तत्त्व माना है। वह एक तत्त्व है, ब्रह्म। ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् में अन्य कुछ भी नहीं है। जगत् की विचित्रता, विश्व की विविधता, अविद्या जन्य है। माया के कारण है, जगत भ्रम है, माया है। सर्वत्र चेतन है, जड कहीं है ही नहीं। यह सिद्धान्त ही अद्वैत के नाम से विख्यात है। अविद्या से काम उत्पन्न होता है। काम से कर्म उत्पन्न होता है। काम, इच्छा, आसक्ति से प्रेरित होकर प्राणी क्रिया करता है—कर्म-हेतुः कामः स्यात्। यही संसार-चक्र है, जो दिवा-निशा घूमता रहता है। यही है, बंधन, जिसमें जीव बद्ध होकर अपने स्वरूप को भूल बैठा है। क्षणिक विषय सेवन में आसक्ति के कारण, उसके चित्त में कभी प्रसन्नता, तो कभी खिन्नता भी होती है। यही संसार का सुख-दुःख है। जो जीव के अपने शुभ-अशुभ कर्म के परिणाम रूप उसको इस जीवन में, जन्मान्तर में प्राप्त होता रहता है। वेदान्त में कर्म के तीन प्रकार हैं—संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध। प्रकारान्तर से भी कर्म के तीन अन्य भेद हो सकते हैं—विहित, निषिद्ध तथा उदासीन। चार्वाक दर्शन को छोड़कर भारत के अन्य दर्शन कर्म की सत्ता को किसी न किसी रूप रूप में स्वीकार करते हैं। प्रक्रिया सब की अलग-अलग है। इस मत में सब एक है, कि आसक्ति बन्धन का मूल है। कषाय-मूलक कर्म अवश्य अपना फल देता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन :

कर्म, बन्ध और मोक्ष के विषय में, जैन दर्शन के विद्वान् विचारकों ने पर्याप्त चिन्तन, मनन एवं गम्भीर मन्थन किया है। समस्त जीवों में, तत्त्वतः साम्य है, तो फिर उनमें वैषम्य क्यों नजर आता है। एक जीव में भी काल-भेद से, स्थिति-भेद से और क्षेत्र भेद से वैषम्य क्यों होता है? इन प्रश्नों का सम्यक् समाधान तथा इस प्रकार के अन्य प्रश्नों का उत्तर कर्म-वाद से ही प्राप्त होता है। कर्मवाद, कर्म-मीमांसा एवं कर्म सिद्धान्त, जैनों का अपना स्वतन्त्र चिन्तन रहा है।

कर्म-सिद्धान्त की पृष्ठभूमि पूर्णतः तर्कसंगत है, कार्य-कारण सिद्धांत पर आधारित होने से हम इसे कर्म-विज्ञान भी कह सकते हैं। जैसा कर्म, वैसा फल। जगत् में यह मान्यता प्राचीनतर काल से ही चली आ रही है। शुभ तथा अशुभ कर्म करने में जीव जैसे स्वतन्त्र है, अपने कर्मों के फल भोग में भी वह, वैसा ही स्वतन्त्र है। फल भोग में, अन्य किसी के अनुग्रह और निग्रह की आवश्यकता नहीं। जीव अपने वर्तमान एवं भावी का निर्माता स्वयं ही है। कर्मविज्ञान कहता है, कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर और भावी का निर्माण वर्तमान के आधार पर होता है। अतीत, वर्तमान और भविष्य की बिखरी कड़ियों को जोड़ने वाला कर्म तत्त्व ही है।

जैन दर्शन में कर्म के दो भेद हैं—भाव कर्म और द्रव्य कर्म। वस्तुतः अज्ञान, राग और द्वेष ही कर्म हैं। राग से माया और लोभ का ग्रहण होता है। द्वेष से क्रोध और मान का ग्रहण हो जाता है। स्व और पर का भेद ज्ञान न होना, अज्ञान तथा दर्शन मोह है। सांख्य, बौद्ध और वेदान्त दर्शन में यही अविद्या के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि राग-द्वेष ही पाप के प्रेरक हैं, तथापि सबकी जड़ अज्ञान ही है। अज्ञानजन्य इष्ट-अनिष्ट की कल्पना के कारण, जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे कषाय, राग एवं द्वेष कहे जाते हैं। जैन दर्शन की परिभाषा में यही भाव कर्म है, जो जीव का आत्मगत संस्कार विशेष है। आत्मा के चारों ओर तथा ऊपर-नीचे सदा विद्यमान अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक परमाणु-पुञ्ज को जो अपनी ओर खींचता है, वह भाव कर्म है, जो परमाणु-पुञ्ज खिचता है, वह द्रव्य कर्म है, कार्मण काय है। यही जन्मान्तर में अथवा मरणोत्तर जीवन में, जीव के साथ में जाता है, और स्थूल शरीर की निर्मति के लिए, रचना के लिए भूमिका तैयार करता है। अतः आत्मा की सत्ता में विश्वास करने वाले

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी मतों में, पुनर्जन्म एवं पुनर्भव के कारण रूप से कर्म तत्त्व को स्वीकार किया है।

कर्म का स्वरूप और भेद :

लोक भाषा में कहा जाता है, कि यथा बीजं तथा फलं, जिस प्रकार का बीज होता है, उसी प्रकार का उसका फल भी होता है। न्याय-शास्त्र की भाषा में इसको कार्य—कारण भाव कहना संगत होगा। अध्यात्म शास्त्र में, इसको क्रियावाद अथवा कर्मवाद कहते हैं। भगवान महावीर अपने को क्रियावादी कहते थे। क्रिया ही कर्म बन जाती है। जो कर्मवादी होगा, वह लोक-परलोकवादी होगा। परलोकवादी आत्मवादी अवश्य होगा। कर्म-शास्त्र पर जैन विद्वानों ने पर्याप्त लिखा है, क्योंकि कर्मवाद जैन दर्शन का मुख्य विषय रहा है। आधुनिक भाषा में इसे हम कर्म विज्ञान कह सकते हैं।

जीव जैसा कर्म करता है, शुभ या अशुभ उसको वैसा ही फल मिलता है, सुख अथवा दुःख। सुख-दुःख को भोग कहते हैं, वह प्रिय भी होता है, अप्रिय भी। अनुकूल भी होता है, प्रतिकूल भी। कर्म सिद्धांत की यह एक सर्वगम्य और सर्वग्राह्य, परिभाषा है। कर्म सिद्धांत का प्रतिपादन, सभी ने किया है। महावीर ने, बुद्ध ने, कपिल ने, पतञ्जलि ने, गौतम ने, कणाद ने, जैमिनि ने और व्यास ने। ये सब अध्यात्मवादी युग-पुरुष हैं। आत्मवादी होने के नाते इन के द्वारा कर्म सिद्धान्त का स्वीकार करना परम आवश्यक था। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले, और उसकी सत्ता का निषेध करने वालों को भी कर्मवाद स्वीकार करना पड़ा है। वर्तमान जीवन की समस्याओं का समाधान, कर्मवाद के बिना सम्भव नहीं। नास्तिक चार्वाक के समक्ष, न भूत है, न अनागत है। क्योंकि उसे त्रैकालिक सत्ता पर रंच भर भी विश्वास नहीं है।

परलोक में विश्वास करने वाले विद्वानों का मत है, कि प्रत्येक शुभाशुभ कर्म अपना संस्कार छोड़ता है, क्योंकि प्रत्येक कर्म के मूल राग अथवा द्वेष होता ही है। अल्पकाल की क्रिया हो, या दीर्घकाल की। उस का संस्कार फलोदय तक स्थायी रहता है। क्रिया, क्रिया से संस्कार, संस्कार से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से कर्म बन्ध—यह संसार-चक्र है। कर्म, संस्कार मात्र ही नहीं होता, वह जैन दर्शन की अवधारणा के अनुसार वस्तु भूत पदार्थ भी है। कर्म केवल भावना रूप ही नहीं, एक भौतिक पदार्थ भी है। जीव की राग-द्वेष रूप क्रिया से आकर्षित होकर, वह जीव से बँधता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः उसे कर्म संज्ञा प्रदान की है। पुद्गल द्रव्य की अनेकविध वर्गणाओं में से एक वर्गणा कार्मण भी है, जो समस्त लोक में परिव्याप्त है। जीव की क्रिया का निमित्त पाकर, वह कार्मण वर्गणा कर्म रूप में परिणत हो जाती है। जब राग-द्वेष से अभिभूत जीव शुभ एवं अशुभ क्रिया करता है, तब कर्म-रज ज्ञानावरण आदि रूप से उसमें प्रवेश करता है। अतएव कर्म एक मूर्त पदार्थ है, जो जीव के एक-एक प्रदेश के साथ बद्ध हो जाता है। अमूर्त जीव के साथ मूर्त कर्म बन्ध कैसे होता है। यह बहुत ही पुरातन काल से परिचर्चा का विषय रहा है। समाधान भी प्राचीन काल से होता रहा है, जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। किसी समय जीव सर्वथा परिशुद्ध रहा हो, बाद में कर्म बन्ध हुआ हो, इस प्रकार की अवधारणा जैन दर्शन में कभी रही नहीं। क्योंकि संसारी जीव अनादि काल से ही मूर्त कर्मों से बद्ध रहा है। अतः वह भी कथंचित् मूर्त जैसा हो गया है। संसारी दशा में, द्रव्य बन्ध से भाव बन्ध और भाव बन्ध से द्रव्य बन्ध, प्रतिक्षण होता ही रहता है, यह बन्ध का परिचक्र अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है, और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-सान्त है।

कर्म और फल :

जीव और पुद्गल में क्रिया होती है। जिस में क्रिया हो, वह क्रियावान कहा जाता है। क्रिया बिना फल के नहीं होती, फल कैसा भी हो सकता है—शुभ तथा अशुभ। जैसा कर्म होता है, उसका परिणाम भी वैसा ही होता है। जैन दर्शन की मान्यता है, कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, लेकिन उसके फल भोग में स्वतन्त्र नहीं। जीव कर्म करे, न करे, उसकी इच्छा पर निर्भर है। परन्तु करने पर उसका फल उसे भोगना पड़ेगा। फल से बचने का उपाय नहीं है, उपाय हो सकता है, कर्म करने से बचने का। जलती अग्नि में हाथ डालना, न डालना, डालने वाले की इच्छा पर निर्भर है, किन्तु डालने पर जलने से बच निकलना, सम्भव नहीं है। अतः जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, लेकिन उसके फल-भोग में परतन्त्र रहता है।

कर्म के भेद :

कर्म के दो भेद हैं – द्रव्य कर्म और भाव कर्म। जीव से संबद्ध कर्म पुद्गल को द्रव्य कर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म के प्रभाव से होने वाले जीव के राग-द्वेषात्मक भावों को भाव कर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म, भाव कर्म का कारण है, और भाव कर्म, द्रव्य कर्म का। बिना द्रव्य कर्म के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भाव कर्म नहीं होते। बिना भाव कर्म के द्रव्य कर्म नहीं होते। द्रव्य में और भाव में परस्पर कार्य-कारण भाव है। भाव चेतन है, और द्रव्य अचेतन। यहाँ पर भाव से तात्पर्य है, जीव के विकारी भाव। जैसे कि काम, क्रोध एवं भय आदि हैं। द्रव्य का अर्थ है, भौतिक तत्त्व। जिसमें कर्म रूप में परिणत होने की योग्यता हो, परन्तु चेतना न हो। जैसे कि कार्मण वर्गणा के पुद्गल-परमाणु-पुञ्ज। यह द्रव्य कर्म है।

जैन दर्शन में कर्म शब्द का अर्थ किया है, कि जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ में जीव की ओर आकर्षित होने वाले कर्म परमाणु। कर्म परमाणु योग से जीव की ओर आकर्षित होते हैं। योग का अर्थ है—मानसिक व्यापार, वाचिक व्यापार और कायिक व्यापार। योग एक क्रिया है, एक व्यापार है, जो तीन प्रकार के है—मन का चिन्तन, वाग् का वचन और काय की हल-चल। योग से आत्म प्रदेशों में एक प्रकार का कम्पन होता है, इसको जैन दर्शन की परिभाषा में योग कहा गया है। फिर तो अज्ञान, राग-द्वेष और मोह रूप भावों का निमित्त पाकर, कषाय से जीव बद्ध हो जाता है अतः योग और कषाय बन्ध के कारण हैं। कर्म परमाणुओं को जीव तक लाने का कार्य जीव की योग-शक्ति करती है, और उसके साथ बन्ध कराने का कार्य कषाय करता है, जो जीव के राग-द्वेष रूप भाव करते हैं। इन विकारी भावों को जीव का विभाव कहा जाता है। अतः जीव की योग-शक्ति और कषाय भाव ही बन्ध का कारण है। कषाय के नष्ट हो जाने पर भी योग के रहने तक जीव में कर्म रज का आस्रवन तो होता है, किन्तु कषाय का अभाव होने से कर्म रज जीव से चिपकते नहीं। योग को पवन की, कषाय को गोंद की, जीव को भित्ति की और कर्म परमाणुओं को धूलि की उपमा दी जा सकती है।

बन्ध के प्रकार :

योग और कषाय से जीव के साथ कर्म-पुद्गलों का बन्ध होता है। वह चार प्रकार का है, जो इस प्रकार का होता है—

१. प्रकृति बन्ध।
२. प्रदेश बन्ध।
३. स्थिति बन्ध।
४. अनुभाग बन्ध।

प्रकृति का अर्थ होता है, स्वभाव-बद्ध-कर्म परमाणुओं में, अनेक प्रकार के स्वभाव का उत्पन्न हो जाना, प्रकृति बन्ध होता है। उनकी संख्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का नियत होना—प्रदेश बन्ध है। उनमें काल की मर्यादा का होना—स्थिति बन्ध है। उनमें फल देने की शक्ति होना अनुभाग बन्ध है। प्रकृति स्वभाव को, प्रदेश रत्न संचय को, स्थिति काल मर्यादा को और अनुभाव विपाक को कहा गया है।

प्रकृति बन्ध के प्रकार :

कर्म के अनेक प्रकार से अनेक भेद हो सकते हैं। परन्तु कर्म के मूल भेद आठ ही होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. ज्ञानावरण।
२. दर्शनावरण।
३. वेदनीय।
४. मोहनीय।
५. आयुष्।
६. नाम।
७. गोत्र।
८. अन्तराय।

ज्ञानावरण, जीव के ज्ञान गुण का घातक है। दर्शनावरण, जीव के दर्शन गुण का घातक है। आवरण का अर्थ है—आच्छादन। किसी वस्तु को ढँक देना। ये दोनों कर्म जोव के ज्ञान और दर्शन को ढांकते हैं। चेतन जीव की चेतना दो प्रकार की है—ज्ञान चेतना और दर्शन चेतना। वस्तु का विशेष परिबोध और उसका सामान्य परिबोध। ये कर्म, दोनों को प्रकट होने से रोकते हैं। अतः इन दो कर्मों को आवरण कहा है। वेदनीय कर्म, जीव को सुख और दुःख का वेदन कराता है, अनुभव कराता है। इस कर्म के कारण ही जीव सुखी एवं दुःखी होता है। मोहनीय कर्म, जीव को मुग्ध बना देता है, जिसके कारण उसको स्व-पर का भान नहीं हो पाता। मोह के कारण जीव को न तो सच्चा श्रद्धान हो पाता है, और न सच्चा चारित्र ही। क्योंकि वह जीव के श्रद्धान गुण का और चारित्र का घातक है। आयुष्य कर्म जोव को संसार में रोक कर रखता है। आयुष्य कर्म का उदय जीवन है, और उसका क्षय मरण। कर्म के आठ भेदों में से एक भेद नामकर्म है, जिसके कारण जीव को शरीर, इन्द्रिय और मन की प्राप्ति होती है। शरीर के अंग उपांग और अंग-उपांगों की रचना का भी कारण यही है। गोत्र कर्म के कारण जीव का जन्म, अधम कुल में और उत्तम कुल में होता है, इनको नीच-कुल तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्च कुल भी कहते हैं। निन्दनीय कुल एवं प्रशंसनीय। अन्तराय कर्म के कारण जीव को अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं है। वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा पड़ जाती है। यह कर्म जीव के वीर्य गुण का घातक होता है। कर्म के दो भेद भी हैं—घाति कर्म और अघाति कर्म। घाति कर्म के भी दो भेद हैं—सर्वघाति और देशघाति। जैसे मनुष्य का खाया हुआ भोजन आमाशय में जाकर, मांस, मज्जा, रुधिर और रस रूप में परिणत हो जाता है, वैसे ही जीव के द्वारा गृहीत कर्म पुद्गल भी आठ कर्मों में विभक्त हो जाते हैं।

अष्ट कर्मों की दश दशा :

कर्मों के मूल भेद आठ हैं। परन्तु उत्तर भेद अनेक हैं, जिनका परिबोध कर्म ग्रन्थों से किया जा सकता है। यहाँ पर कर्मों की दश दशाओं का संक्षेप में कथन है—

१. बन्ध।
२. उत्कर्ष।
३. अपकर्ष।
४. सत्ता।
५. उदय।
६. उदीरणा।
७. संक्रमण।
८. उपशम।
९. निधत्ति।
१०. निकाचना।

बन्ध का अर्थ है—कर्म पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध हो जाना। यह पहली दशा है। इसके बिना अन्य नव दशा नहीं हो सकती है। इसके चार भेद हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध। उत्कर्ष का अर्थ है—कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि हो जाना। अपकर्ष का अर्थ है—कर्मों की स्थिति एवं अनुभाग में कमी का हो जाना। सत्ता का अर्थ है—बन्ध के तुरन्त बाद ही कर्म अपना फल नहीं देता, कुछ समय बाद ही उसका फल मिलता है। जब तक कर्म फल नहीं देता, तब तक वह जीव के बद्ध रहता है, यही है, कर्म की सत्ता दशा। जैसे भंग पीते के साथ ही नशा नहीं चढ़ता, कुछ समय बाद ही उसका प्रभाव पड़ता है, वैसे ही कर्म भी कुछ समय तक सत्ता में रहकर अपना प्रभाव डालता है। सत्ता काल को अबाधा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल कहते हैं। प्रत्येक कर्म का अबाधा काल उस कर्म की स्थिति के अनुसार ही होता है। उदय का अर्थ है—कर्म के फल देने को। वह दो प्रकार का है—फलोदय एवं प्रदेशोदय। कर्म जब अपना फल देकर नष्ट होता है, तब वह फलोदय कहा जाता है। कर्म जब बिना फल के ही नष्ट हो जाता है, तब उसको प्रदेशोदय कहा जाता है। उदीरणा का अर्थ है—नियत समय के पूर्व कर्म का विपाक हो जाना। इसको उदीरणा कहते हैं। उदीरणा के पूर्व अपकर्ष करण के द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर दिया जाता है। स्थिति घट जाने पर कर्म नियत समय के पूर्व ही उदय में आ जाता है। प्राणी जब असमय में ही मर जाता है, तब उसको अकाल मृत्यु, लोक में कहा जाता है। अकाल मृत्यु का कारण आयुष्य कर्म की उदीरणा ही है। क्योंकि स्थिति का घात जब तक न हो, तब तक उदीरणा नहीं होती। संक्रमण का अर्थ है—एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्म रूप हो जाना। यह संक्रमण कर्म के मूल भेदों में नहीं होता। जैसे कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण नहीं हो सकता है। किन्तु एक कर्म का अवान्तर भेद अपने सजातीय अन्य भेद रूप हो सकता है। साता असाता में, और असाता साता में बदल जाता है। यद्यपि संक्रमण एक कर्म के अवान्तर भेदों में ही होता है, तथापि इसका अपवाद भी है। जैसे कि आयुष्य कर्म के चार भेदों में परस्पर संक्रमण नहीं होता। जिस जीव ने नरक गति के आयुष्य का बन्ध किया है, उसको नरक गति में ही जाना पड़ता है, किसी भी अन्य गति में नहीं जा सकता। उपशम का अर्थ है—कर्म को उदय में नहीं आने देना। उदय में आने के अयोग्य कर देना। इसी का नाम है—उपशम करण। निधत्ति का अर्थ है—कर्म का संक्रमण और उदय न हो सकना। इस दशा में कर्म का न तो संक्रमण ही हो पाता है, और न उदय हो पाता है। निकाचना का अर्थ है—कर्म में न तो उत्कर्षण होता है, न अपकर्षण, न संक्रमण और न उदय ही हो पाता है। जैन सिद्धांत में कर्मों का जितना विशद, व्यापक और स्पष्ट वर्णन उपलब्ध है, उतना और वैसा अन्यत्र देखने में नहीं आता। कर्मवाद जैन दर्शन का प्राणभूत सिद्धान्त रहा है। जीवन की समस्याओं का समाधान इसमें है।

ईश्वरवाद और कर्मवाद :

भारतीय दर्शनों में ईश्वरवाद के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अवधारणाएँ रही हैं। ईश्वर है, ईश्वर नहीं है। ये दोनों पक्ष भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में, मुख्य रूप से परिचर्चा के विषय रहे हैं। ईश्वर है, वह जगत् का कर्ता है, वह जगत् धर्ता है, वह जगत् संहर्ता है। ईश्वर सर्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शक्तिमान है। अनन्त ज्ञानवान है। नित्य ज्ञानवान है। सृष्टि का रचनाकार है। नित्य है, विभु है और जीवों के शुभ-अशुभ कर्मों के फल का प्रदान करने वाला है।

ईश्वर नहीं है। जगत् अनादि-अनन्त है। जो अनादि और अनन्त होता है, उसका कोई कर्ता, धर्ता तथा संहर्ता नहीं होता, सृष्टि की रचना किसी ने भी नहीं की है। वह कृत्रिम नहीं है, अकृत्रिम है। जीवों के कर्मों का फल स्वयं कर्म ही प्रदान करते हैं। फल देने के लिए ईश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है। एक ईश्वर की कल्पना भी मिथ्या है। यदि ईश्वर ही सब कुछ कर सकता हो, तो कर्म को मानने की आवश्यकता ही क्यों हो। जीव के कर्म के अनुसार ही फल देता है, तो कर्म की शक्ति ईश्वर से प्रबल माननी होगी। इस स्थिति में ईश्वर सर्व शक्तिमान नहीं है।

ईश्वर सृष्टिकर्ता नहीं :

कर्मवाद की मान्यता यह है, कि सुख और दुःख, सम्पत्ति और विपत्ति, ऊंच और नीच, के भाव जो संसार में नजर आते हैं उनका कारण कर्मवाद है। कालवाद स्वभाववाद और पुरुषार्थवाद भी कारण हैं। जैन दर्शन अन्य दर्शनों की भाँति उक्त भावों का कर्ता और सृष्टि की उत्पत्ति का कारण नहीं मानता। दूसरे दर्शनों में सृष्टि का उत्पन्न होना माना जाता है। अतः उसके उत्पादक के रूप में ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ दिया गया है।

भारतीय दर्शनों में न्याय दर्शन ही ईश्वरवाद का प्रबल पोषक रहा है। उसके अनुसार शुभ-अशुभ कर्म का फल ईश्वर को इच्छा के अनुसार मिलता है। वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानकर भी परमाणुओं को भी सृष्टि का कारण माना है। योग दर्शन में ईश्वर के अधिष्ठान से प्रकृति का परिणाम, जड़ जगत् का फैलाव माना है। वेदान्त दर्शन में, ब्रह्म को सृष्टि का उपादान कारण सिद्ध किया है। इन दर्शनों में, एक न्याय दर्शन को छोड़कर, ईश्वर की सत्ता, एकमात्र सहायक के रूप में स्वीकृत है। परन्तु न्याय दर्शन ने समग्र सत्ता ईश्वर के हाथों में ही सौंप दी है। अतः वह स्पष्ट रूप में ईश्वरवादी है।

जैन दर्शन जीवों के फल भोगवाने के लिए ईश्वर को कर्म का प्रेरक नहीं मानता। क्योंकि कर्मवाद की मान्यता के अनुसार जिस प्रकार जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, उस प्रकार कर्म के फल को भोगने में भी जीव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वतन्त्र है। अपने कर्म का फल जीव स्वयं ही भोगता है। उसे किसी भी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार जो कर्म का कर्ता होता है, वही उसके फल का भी भोक्ता होता है। कर्म करे जीव और फल दे ईश्वर, यह उचित नहीं। क्योंकि जैन दर्शन में भगवान की व्याख्या अलग है। अर्हत्, जिन, वीतराग और केवली को ही भगवान माना है। भगवान बनने के लिए दो बातों को मानना आवश्यक है—जिस में वीतरागता हो, और सर्वज्ञता हो, वही भगवान हो सकता है। कोई भी व्यक्ति, भगवान होने की योग्यता रखता है। अतः ईश्वर या भगवान एक नहीं, अनन्त हैं।

जीव जैसा कर्म करते है, उनको उनके कर्मों का फल, कर्म द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड़ है, जीवन चेतन है, फिर जड़ कर्म चेतन जीव को फल कैसे दे सकता है। इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है, कि जीव के संग से जड़ कर्म में इस प्रकार की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, कि जड़ कर्म अपने शुभ-अशुभ विपाकों को नियत समय पर जोव पर प्रकट करता है। कर्मवाद यह नहीं मानता है, कि चेतन के सम्बन्ध के अतिरिक्त ही जड़ कर्म भोग एवं फल देने में समर्थ है। जीव और कर्म के मध्य में फलदाता किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं। क्योंकि सभी जीव चेतन हैं, वे जैसा कर्म करते हैं, उसके अनुसार उनकी बुद्धि वैसी हो बन जाती है। कर्म फल की इच्छा न होने पर भो जीव को कर्म फलता ही है।

एक व्यक्ति प्रज्वलित अग्नि में हाथ डालता है, पर वह नहीं चाहता है, कि उसका हाथ जले। परन्तु हाथ जलता है। भंग पीने वाले को नशा आता ही है। सुरापान करने वाले की बुद्धि विकृत होती है। ईश्वर कर्तृत्व वादी कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर, कर्म अपना-अपना फल जीवों पर प्रकट करते हैं। कर्मवादी कहते है, कि कर्म के करने के समय जीव में इस प्रकार के संस्कार पड़ जाते हैं, कि जिन से प्रेरित होकर कर्ता जीव कर्म के फल को आप हा भोगते हैं, और कर्म उन पर अपने फल को स्वयं हो प्रकट करते हैं। इस प्रकार ईश्वर कर्तृत्ववाद में और कर्मवाद में परस्पर विचार भेद तथा मान्यता भेद स्पष्ट है।

ईश्वर और जीव :

ईश्वर चेतन है, और जीव भी चेतन है। फिर दोनों में अन्तर क्या है ? अन्तर यह है, कि जीव की समस्त शक्तियाँ कर्म से आवृत हैं, और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ईश्वर की नहीं हैं। जब जीव अपने आवरणों को पूर्णतया हटा देता है, तब उसकी शक्ति पूर्णतया प्रकट हो जाती है। फिर जीव और ईश्वर में किसी भी प्रकार का भेद अथवा विषमता नहीं रह जाती। विषमता का कारण तो उपाधि है। कर्म ही तो सबसे बड़ी उपाधि मानी है। आत्मा और परमात्मा में, केवल कर्म का ही भेद है, कर्म रूप उपाधि का ही भेद है। यदि कर्म को हटा दिया जाए, फिर न भेद है, न खेद है। कर्मवाद के अनुसार सभी मुक्त जीव ईश्वर ही हैं। अतः ईश्वर एक नहीं अनन्त हैं। संसार में जीव अनन्त हैं। जो कर्मों के बन्धन से विमुक्त हो गया, वह ईश्वर है, वह भगवान है, वह अर्हन् एवं जिन है। वह फिर किसी पर राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता, मोह नहीं करता। वह किसी पर क्रूरता एवं करुणा नहीं करता। मुक्त जीव फिर अवतार भी नहीं लेता। क्योंकि जन्म-मरण के कारण अब उसमें परिशेष नहीं रह जाते हैं।

कर्म तत्त्व की प्राचीनता :

कर्म का सिद्धान्त कब से उदय में आया ? कब से इसका प्रचार एवं प्रसार संसार में आया ? भारत के तीन मूल सम्प्रदाय प्राचीन काल से प्रसिद्ध रहे हैं—जैन, वैदिक और बौद्ध। वैदिक धर्म का प्रारम्भ ऋग्वेद से होता है। उसमें कर्म का प्रयोग क्रिया के रूप में था। कर्म की वह अवस्था उस में नहीं, जो दर्शन युग में एवं तर्क युग में थी। वेदों के विशेष सम्प्रदाय मीमांसा दर्शन का तो मूल आधार ही है, लेकिन वह कर्म यज्ञ और होम क्रिया रूप है। वह क्रिया बाहर की है, उसका सम्बन्ध आत्मा के साथ नहीं है। उस दर्शन में क्रिया को कर्म कहा है।

बौद्ध दर्शन का उदय बुद्ध से प्रारम्भ होता है। इसमें कर्म का स्वरूप केवल क्रिया रूप न होकर, भाव रूप भी है। तथागत का दर्शन क्षणिकवादी है, फिर भी उसमें पूर्वजन्म और उत्तर जन्म को स्वीकार किया है। कर्म के अतिरिक्त उसने कर्म के स्थान पर वासना शब्द का प्रयोग अधिक किया है। कर्म बन्ध का कारण उसमें अविद्या को बताया है। कर्म अपना फल अवश्य देता है, इस सत्य को स्वीकार किया है। कर्म को आत्मा का बन्धन कहा है।

विभिन्न दर्शन में :

कर्म के बन्धक कारणों तथा उसके क्षय के उपायों के विषय में तो मोक्षवादी दर्शन में एकता पूरी तो नहीं, परन्तु कम-अधिक रूप में एकमत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, उसके स्वरूप के विषय में भिन्नता अवश्य है। परमाणुवादी वैशेषिक दर्शन कर्म को चेतननिष्ठ मानकर, उसे चेतन धर्म कहता था। प्रधान एवं प्रकृतिवादी सांख्य दर्शन उसे अन्तःकरण स्थित मानकर, जड़ धर्म कहता था। परन्तु जैन दर्शन की प्रक्रिया दोनों से ही भिन्न है। क्योंकि जैन दर्शन परिणामवादी है। अतः वह कर्म को चेतन और जड़ उभय रूप मानता है। जैन दर्शन कर्म की इस स्थिति को भाव कर्म और द्रव्य कर्म कहता है।

जैन दर्शन में कर्म तत्त्व के उभय रूप आज भी मान्य हैं, और बहुत पुरातन युग में भी मान्य था। जैन दर्शन में कर्म तत्त्व का चिरकाल से विशेष स्थान रहा है। भारत के महान दार्शनिक पण्डित प्रवर श्री सुखलाल जी के विचार में जैन दर्शन की विशिष्ट कर्म-विद्या भगवान पार्श्वनाथ के पहले अवश्य रह चुकी थी। इस विद्या के धारक को कर्म-शास्त्रज्ञ कहा जाता था। कर्म-तत्त्व का मूल-स्रोत जैन सिद्धान्त में मान्य चतुर्दश पूर्वों से आग्रायणीय पूर्व तथा कर्म-प्रवाद पूर्व कहा जाता है। पूर्व शब्द का अभिप्राय भगवान महावीर के पहले से चला आने वाला शास्त्र विशेष हैं।

कर्म शब्द के पर्याय :

जैन शास्त्र में कर्म शब्द के दो अर्थ होते हैं—प्रथम राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय कहते हैं, ये ही भाव कर्म कहे जाते हैं। द्वितीय कार्मण जाति के पुद्गल विशेष, जो कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ साथ सम्बद्ध होते हैं, ये ही द्रव्य कर्म कहे जाते हैं। कर्म के स्थान पर वेदान्त में माया, बौद्ध में अविद्या, सांख्य में प्रकृति, योग में आशय एवं वासना, जैमिनि में अपूर्व और न्याय में तथा वैशेषिक में धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, दैव और भाग्य कहे जाते हैं। जितने आत्म-वादी दर्शन हैं, वे सब पुनर्जन्म तथा उत्तर जन्म को मानते हैं, उनकी सिद्धि के लिए कर्म मानना ही पड़ता है। भाव कर्म के होने में द्रव्य कर्म निमित्त है, और द्रव्य कर्म में भाव कर्म निमित्त है। इस प्रकार दोनों का परस्पर बीजांकुर की भाँति कार्य-कारण भाव सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अनादि काल से है। कार्मण की अपेक्षा कर्म, अनादि, प्रवाह रूप में अनादि है, परन्तु व्यक्ति रूप में सादि भी कहा जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-दर्शन
का
अध्यात्मवाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन-दर्शन का अध्यात्मवाद

जैन परम्परा, जैन धर्म, जैन संस्कृति और जैन दर्शन का प्राणभूत, मूल सिद्धान्त और उसकी जीवन जीने की पद्धति का आधार तत्त्व अध्यात्मवाद रहा है। तीर्थंकर, तदनुयायी गणधर, धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रख्यात व्याख्याकार आचार्यों की मूलभूत वाणी, संगुम्फना और टीका-अनुटीकाओं की मूल ध्वनि एकमात्र अध्यात्मवाद कही जा सकती है। अध्यात्मवाद का अभिप्राय यह है, कि अपने अन्दर देखो। न नीचे देखो, न ऊपर देखो, न इधर-उधर देखो। परखना हो, तो अपने आप को परखो। निहारो, अपने अन्तर में। जो पाना है, उसको अपने आप में खोजो। जिसने खोजा है, उसे अपनत्व से भिन्न, अन्य कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सका है। अपने में, अपने आप को खोजना ही वस्तुतः अध्यात्मवाद कहा गया है। विकृति में प्रकृति खो चुकी है, अब विकृति को संस्कृति में परिणत करके पुनः प्रकृति को पाना है - यही है, जैन दर्शन का अध्यात्मवाद। सोचो, समझो, तुमने अपनत्व को स्वयं खोया है, तो पाना भी तुमको स्वयं ही होगा। पैर में कांटा लगा है, तो उसको दूर करना भी अपने विकास एवं प्रगति के लिए आवश्यक है, अन्यथा कैसी गति ? कैसी प्रगति, और कैसा विकास ? छोटे कांटे को निकालने के लिए बड़ा कांटा अनिवार्य है, लेकिन अन्त में, उसको भी फेंक देना है। दुःख की नदी को पार करने भर के लिए सुख की नौका में बैठना बुरा नहीं कहा जा सकता, परन्तु नदी को पार करने के बाद भी उसको अपने सिर पर उठाकर चल पड़ना, अवश्य ही बुरा कहा जाएगा। सरिता पार करने के पश्चात् तरणी निष्प्रयोजन हो चुकी है। अब, उसको छोड़ने में ही कल्याण है—यही है—अध्यात्मवाद।

अध्यात्मवाद में तीन शब्द हैं—अधि+आत्मन्+वाद। वाद का अभिप्राय है, सिद्धान्त अथवा कथन। किस का कथन, आत्मा का प्रतिपादन। कैसा होगा, प्रतिपादन ? आत्मा अनन्त अतीत में था। आत्मा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान में है। आत्मा अनन्त अनागत में रहेगा। सिद्धान्त रूप में यह कथन, कि आत्मा, अमर, अजर और अभय है। अधि शब्द का अर्थ है, कि अन्दर में, आत्मा की सघन गहनता में पहुँचकर, दैविक तथा भौतिक में विश्वास न रखकर, एकमात्र चैतन्य स्वरूप आत्मा में ही श्रद्धान रखना। संसृति में भूत एवं भौतिक भरा पड़ा है, हम उसकी चमक-दमक में चौंधियाकर, उसे अपना मान बैठे हैं, उस मान्यता को छोड़कर, अपने निज रूप को चींधकर, उसे पाने का जो प्रयत्न अपने अन्तर में चल रहा है –यही है, अध्यात्म भाव की साधना। उस साधना का बौद्धिक रूप है—अध्यात्मवाद।

सिद्धान्त और समाचार दोनों मिलकर, अध्यात्मवाद बनते हैं। बुद्धि और तदनुरूप क्रिया पर, जब सुदृढ़ आस्था टिक जाती है, तब अध्यात्म भाव फलवान बनता है। उस के आधारभूत तत्त्व दो हैं—जीव और कर्म। जीव स्वतन्त्र कर्ता है, कर्म का और साथ ही उसके फल का भोक्ता। जीव, जड़ नहीं, चेतन है। कर्म, चेतन नहीं, जड़ है। दोनों का सयोग बन्ध है। दोनों का वियोग मोक्ष है। भव और मोक्ष, परस्पर विरोधी रहे हैं। मोक्ष जाना हो, तो भव को त्याग देना होगा। भव में रहना हो, तो मोक्ष को जोड़ देना होगा। भव भी रहे और मोक्ष भी जाए, परस्पर विरुद्ध हैं। जिन हेतुओं से बन्ध होता है, तद् विपरीत हेतुओं से मोक्ष होता है। मोक्ष के हेतु, बन्ध के हेतु नहीं हो सकते। बन्ध के कारण, मोक्ष के कारण नहीं बन सकते हैं। मोक्ष श्रेयस है, बन्ध प्रेयस है। बन्ध मिलता है, भूत एवं भौतिक से। मोक्ष मिलता है, चित्त तथा चैतसिक से। बन्ध के कारण पाँच हैं—

१. मिथ्यात्व	विपरीत श्रद्धान
२. अव्रत	संयम का अभाव
३. प्रमाद	धर्म में प्रीति की मन्दता
४. कषाय	संसार लाभ का कारण
५. योग	मनोवाक-काय की क्रिया

इन पाँचों से जीव कर्मबद्ध हो जाता है। संसार-दुःख के उत्पादक कारण ये ही हैं। मोक्ष के कारण भी पाँच हैं—

१. सम्यक्त्व	सम्यक् श्रद्धान
२. व्रत	संयम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. अप्रमाद	धर्म में प्रीति की तीव्रता
४ अकषाय	मोक्ष लाभ का कारण
५. अयोग	क्रिया का अभाव

अध्यात्मवाद के आधार चार तत्त्व हैं—जीव, कर्म, बन्ध और मोक्ष। बन्ध के अभाव में मोक्ष कैसा ? बन्ध है, तभी मोक्ष भी है। मोक्ष है, तो बन्ध कैसा ? मोक्ष में बन्ध का अभाव है। संसार में मोक्ष का अभाव है। जीव की सत्ता अनादि-अनन्त है। कर्म की सत्ता भी प्रवाह रूपेण, सन्तति रूप में अनादि-अनन्त है, अभव्य जीव की अपेक्षा से। भव्य की अपेक्षा से अनादि-सान्त भी है। प्रवाह से कर्म अनादि-अनन्त है। व्यक्ति की अपेक्षा से कर्म सादि-सान्त भी कहा जा सकता है। अध्यात्मवाद को समझने के लिए जीव के गुणों के क्रमिक विकास को समझना आवश्यक है। कर्म के विकार और संस्कार को समझने के लिए लेश्या का जानना भी अपेक्षित रहता है। गुणस्थान के परिबोध से जीव के भावों के उत्थान-पतन का पता चलता है। लेश्या के परिज्ञान से कर्म के स्वरूप का और आत्मा पर उसके प्रभाव का प्रबोध हो जाता है।

भारत के दार्शनिक विद्वानों ने चार प्रकार के पुरुषार्थ की स्थापना बहुत प्राचीन काल से ही कर दी थी। तदनुसार जीवन को मधुर, रुचिर और सुन्दर बनाने की चार पद्धतियाँ हैं, इन को ही शास्त्र भाषा में पुरुषार्थ, पुरुष प्रयोजन तथा आत्मा के संलक्ष्य कहे गए हैं—काम और अर्थ तथा मोक्ष और धर्म हैं। इनमें से धर्म और मोक्ष का तो सीधा सम्बन्ध आत्मा के साथ होने के कारण अध्यात्म भाव कहा गया है। भारत के चिन्तकों ने अर्थ और काम के सम्बन्ध में कहा है, कि ये दोनों भी धर्मपूर्वक, मर्यादा-पूर्वक होने चाहिए। आस्तिक दर्शनों में इस स्थापना को एक स्वर से स्वीकार किया है, लेकिन नास्तिक दर्शन अर्थ और काम को स्वीकार करके भी धर्म और मोक्ष को अस्वीकार करते हैं। परलोक और पुनर्जन्म में, सुख की प्राप्ति, धर्म और मोक्ष रूप पुरुषार्थ बिना सम्भव नहीं। उनके कथन का सार है, कि यदि जीव के कर्म संबद्ध न हो, तो भव, भवान्तर, लोक परलोक तथा दुःख सुख की व्यवस्था ठीक नहीं बैठ पाती। अतः अध्यात्म साधना में पुरुषार्थवाद का महत्त्व कम नहीं है। भारत के विद्वानों में कभी दो पुरुषार्थ, कभी तीन पुरुषार्थ और कभी चार पुरुषार्थ की मान्यता पर वाद, विवाद तथा संवाद होता रहा है। वस्तुतः पुरुष के प्रयोजन तो दो ही हैं—काम और मोक्ष। शेष दो—अर्थ और धर्म-साधन हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संसार में, जीवों की संख्या का पार नहीं है, जीव अनन्त हैं, कर्म के परमाणुओं की संख्या का भी आर-पार नहीं, अनन्त हैं। अतः किसी एक व्यक्ति की अपेक्षा से जीव की समस्त अवस्थाओं का वर्णन सम्भव नहीं है। क्योंकि जीव के परिणामों के प्रतिपल बदलते रहने के कारण जीव के विचार भी बदलते रहते हैं। यही कारण है, कि अध्यात्मवादी विद्वानों ने संसारस्थ जीवों को उनकी आभ्यन्तर शुद्धि-जन्य उत्क्रान्ति और अशुद्धि जन्य अपक्रान्ति के आधार पर, उनका वर्गीकरण किया है। इस पद्धति को शास्त्रीय भाषा में गुणस्थान क्रम, लेश्या-विचार और ध्यान-मार्ग कहा गया है। जैन परम्परा के दार्शनिक विद्वानों ने जीव कर्म सम्बन्ध, गुण-स्थान, लेश्या और ध्यान पर गम्भीरता से विचार किया है। वस्तुतः अध्यात्मवाद के मुख्य एवं आधारभूत तत्त्व भी इन्हें ही माना गया है। गुणस्थान, जीव के होते हैं, लेश्या, जीव के होती है, ध्यान जीव के होते हैं। ये सब संसारस्थ जीव के होते हैं। मुक्तिस्थ जीवों में न गुणस्थान हैं, न लेश्या हैं, और न ध्यान हैं। क्योंकि उन जीवों के कर्म का सर्वथा तथा सर्वदा अभाव रहता है। वहाँ पूर्ण विकास है, वहाँ अविकास है ही नहीं। अध्यात्मवाद को समझने तथा समझाने के लिए, इनको समझना परम आवश्यक है।

अध्यात्मवाद और गुणस्थान :

गुणस्थान को परिभाषित करने के पूर्व यह अधिक उपयोगी सिद्ध होगा, कि उसकी पृष्ठ भूमिका को पहले समझा जाए। मोहकर्म की मुख्यता के कारण, गुणस्थान का आरोहण-अवरोहण उसकी तर-तम अवस्था पर आधृत है। कर्म की चार अवस्थाएँ होती हैं, जैसे कि बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता। अभिनव कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहा है। स्वभावतया जीव अमूर्त होने पर भी संसारी जीव शरीर-धारी होने से कथंचित् मूर्त भी है, उस दशा में कषाय और योग के निमित्त से अनादि काल से ही मूर्त कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता रहा है। जीव तथा कर्म का संयोग बन्ध है। बन्ध दो प्रकार का है, प्रथम सांपरायिक बन्ध और द्वितीय योग-प्रत्ययिक बन्ध। प्रथम कषाय से और द्वितीय योग से होता है। कषाय मोह कर्म का भेद है। सातावेदनीय कर्म प्रकृति तो योग से बँधती हैं, और असाता वेदनीय कर्म-प्रकृति के बन्ध में कषाय के सहयोग की भी आवश्यकता रहती है, कषाय प्रेरक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उदय क्या है ? द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के निमित्त से कर्म की स्थिति को पूरा करके बद्ध कर्म का फल मिलना उदय होता है। जिस कर्म का जितना अबाधा काल है, उसके समाप्त होते ही उस कर्म के उदय में आने के लिए कर्म दलिकों की निषेक नामक एक विशेष प्रकार की रचना होती है, और निषेक के अग्र भाग पर स्थित कर्म उदयावलिका में स्थित होकर, फल देना प्रारम्भ कर देता है।

उदीरणा क्या है ? उदय में आने के समय के पूरा न होने पर भी आत्मा के करण-विशेष से, अध्यवसाय विशेष से कर्म का उदयावली में आकर फल देना, उदीरणा होती है।

सत्ता क्या है ? बन्ध द्वारा स्वरूप प्राप्त कर्म प्रकृतियों का जीव के साथ सम्बद्ध रहना सत्ता होती है।

अन्य दर्शनों में सत्ता को संचित, उदय को प्रारब्ध, और बन्ध को क्रियमाण कहा जाता है, उदीरणा जैसी स्थिति वहाँ नहीं है।

गुणस्थान का लक्षण :

कर्मग्रन्थों में, ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि एवं अशुद्धि के न्यून-अधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप को गुणस्थान कहा है। आगमों में, गुण-स्थान शब्द के लिए जीवस्थान शब्द का प्रयोग किया गया है। गुणस्थान शब्द का प्रयोग आगमोत्तर कालीन आचार्यों द्वारा रचित कर्मग्रन्थों में एवं अन्य ग्रन्थों में किया गया है। कहीं-कहीं पर जीव समास शब्द का प्रयोग भी होता है। आत्मगत गुणों के विकास क्रम को गुणस्थान कहा गया प्रतीत होता है। अतएव गुणों के आत्म-शक्तियों के स्थानों को अर्थात् आत्मा के विकास की क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहते हैं। जैन दर्शन में गुण-स्थान एक पारिभाषिक शब्द है, अन्य दर्शनों के ग्रन्थों में इस प्रकार का शब्द प्रयोग नहीं है।

गुणस्थान क्रम का आधार :

कर्मों में, मोह कर्म सर्व प्रधान है। जब तक मोह बलवान् और तीव्र है, तब तक अन्य सभी कर्म सबल और तीव्र बने रहते हैं। अतः आत्मा के विकास में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता, और मुख्य सहायक मोह की निर्बलता है। इसी कारण से आत्मा के विकास की क्रमगत अवस्थाएँ, गुण-स्थान, मोह शक्ति की उत्कटता, मन्दता और अभाव पर ही आधारित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोह की प्रधान शक्ति दो हैं –दर्शन-मोह और चारित्र-मोह। दर्शन मोह आत्मा को दर्शन अर्थात् स्वरूप एवं पररूप का निर्णय, विवेक नहीं होने देता। चारित्र मोह आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति नहीं करने देता। व्यवहार में भी यही देखा जाता है, कि वस्तु का यथार्थ-बोध हो जाने पर उस वस्तु को पाने अथवा छोड़ने की चेष्टा की जाती है। आध्यात्मिक विकासगामी आत्मा के लिए भी ये ही दो मुख्य कार्य हैं—स्वरूप दर्शन और तदनुसार प्रवृत्ति, अर्थात् स्वरूप में स्थित हो जाना। स्वरूप बोध हो जाने पर स्वरूप लाभ का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अतः मोह कर्म गुणस्थान का मुख्य आधार है।

गुणस्थानों का क्रम :

आत्मा की अधिकतम आवृत अवस्था प्रथम गुणस्थान है, जिसको मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। इसमें मोह की दोनों शक्तियों का प्रबलतम प्रभाव होने के कारण आत्मा अध्यात्म-स्थिति से सर्वथा निम्न दशा में रहता है। फिर भी उस शक्ति का अनन्तवां भाग सदा उद्घाटित रहता है। इस भूमिका में आत्मा भौतिक वैभव का उत्कर्ष कितना भी कर ले, परन्तु स्वरूप बोध की दृष्टि से शून्य रहता है। फिर भी तीव्रतम राग-द्वेष को मन्द करके मोह कर्म की प्रथम शक्ति को छिन्न भिन्न करने योग्य आत्मबल प्रकट कर लेता है। यही विकास के प्रारम्भ होने की पूर्व भूमिका है। स्वरूप बोध का मार्ग प्रशस्त होने पर भी कभी आत्मा के परिणाम ऊर्ध्वमुखी होते हैं, कभी अधोमुखी होते हैं। परिणामों में स्थिरता नहीं आने पाती है।

दर्शन शक्ति के विकास के बाद में, चारित्र शक्ति के विकास का क्रम प्रारम्भ होता है। दर्शन मोह को शिथिल करके स्वरूप दर्शन कर लेने के बाद भी जब तक दूसरी शक्ति चारित्र-मोह को शिथिल न किया जाए, तब तक आत्मा की स्वरूप में स्थिति नहीं हो सकती है। इस अवस्था में भी दर्शन मोह को शमित करने वाली आत्मा स्वरूप बोध से पतित होकर पुनः अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आ सकती है, तब पूर्व में जो कुछ भी परिणाम शुद्धि की थी, वह सब व्यर्थ हो जाती है। लेकिन जिसने दर्शन मोह का सर्वथा क्षय कर दिया है, वह आत्मा तो पूर्णता को प्राप्त करके ही विराम लेती है। गुणस्थान क्रम का अभिप्राय यही है। गुणस्थान के इन चतुर्दश भेदों में पहले की अपेक्षा दूसरे में, दूसरे की अपेक्षा तीसरे में, इस प्रकार विकास की मात्रा बढ़ती जाती है। पहले, दूसरे और तीसरे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणस्थान में आत्मा की शक्ति दर्शन और चारित्र शक्ति का विकास इसलिए नहीं हो पाता, कि उनमें उनके प्रतिबन्धक कारणों की अधिकता रहती है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों से प्रतिबन्धक संस्कार मन्द होते हैं, जिससे उन-उन गुणस्थानों में शक्तियों के विकास का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इन प्रतिबन्धक संस्कारों को कषाय कहा जाता है।

कषायों के मुख्य रूप में चार विभाग हैं। ये विभाग काषायिक संस्कारों की फल देने की तर-तम शक्ति पर आधारित हैं। इनमें से प्रथम विभाग, दर्शन मोह और अनन्तानुबन्धी कषाय का है। शेष तीन बिभाग जिनको क्रम से अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कहते हैं, चारित्र शक्ति के प्रतिबन्धक हैं। प्रथम विभाग की तीव्रता रहने पर दर्शन शक्ति का आविर्भाव नहीं हो पाता है। परन्तु जैसे-जैसे मन्दता अथवा अभाव की स्थिति बनती है, दर्शन शक्ति अभिव्यक्त होती है।

गुणस्थानों का संक्षिप्त परिचय :

दर्शन मोह और अनन्तानुबन्धक कषाय का वेग उपशान्त एवं क्षय होने पर चतुर्थ गुणस्थान के अन्त में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का संस्कार नहीं रहता है। अतः पञ्चम गुणस्थान में चारित्र शक्ति प्रकट होने लगती है, पूर्ण विकास तो नहीं होने पाता, अतः उसको देश विरत कहा गया है। पञ्चम गुणस्थान के अन्तिम भाग में प्रत्याख्यानावरण कषाय का वेग न रहने से चारित्र शक्ति का विकास और अधिक बढ़ जाता है, जिससे इन्द्रिय विषयों से विरक्त होने पर व्यक्ति अनगार हो जाता है। वह श्रमण-जीवन अंगीकार करता है, यह विकास की षष्ठम भूमिका है। इस भूमिका में चारित्र की विपक्षी संज्वलन कषाय के रहने से चारित्र पालन में विक्षेप तो पड़ता रहता है, किन्तु उसका विकास रुकता नहीं। शुद्धि और स्थिरता में बीच बीच में बाधा आती रहती है और साधक उन विधातक कारणों से संघर्ष भी करता रहता है। इस संघर्ष में सफलता प्राप्त करने पर आत्मा सप्तम, अष्टम, नवम, दशम और एकादशम गुणस्थानों को लांघकर, द्वादशम गुणस्थान जा पहुँचता है। इसमें तो दर्शन शक्ति और चारित्र शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा क्षय हो जाते हैं, जिससे आत्मा की दोनों ही शक्ति पूर्णतया विकास पा लेती हैं। उस स्थिति में जीव जीवन मुक्त, अर्हन दशा को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। जीवन मुक्त अवस्था त्रयोदश गुणस्थान में, और पूर्ण निष्कर्म अवस्था चतुर्दश गुणस्थान में प्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाती है। फिर जीव गुण स्थानातीत होकर, सिद्ध, परमात्मा, परब्रह्म हो जाता है। त्रयोदश गुणस्थान सयोगी केवली का और चतुर्दश गुणस्थान अयोगी केवली का होता है।

गुणस्थानों का संज्ञाकरण :

१. मिथ्यादृष्टि
२. सास्वादन सम्यग्दृष्टि
३. मिश्र-दृष्टि (सम्यग्-मिथ्यात्व)
४. अविरत सम्यग्दृष्टि
५. देश विरत
६. प्रमत्त संयत
७. अप्रमत्त संयत
८. निवृत्ति बादर
९. अनिवृत्ति बादर
१०. सूक्ष्म संपराय
११. उपशान्त मोह
१२. क्षीण मोह
१३. सयोगी केवली
१४. अयोगी केवली

अन्य मतों में जीवन विकास क्रम :

जैन दर्शन की भाँति अन्य दर्शनों में भी आत्म-विकास के सम्बन्ध में विचार किया गया है। उनमें भी कर्म-बद्ध आत्मा को क्रमिक विकास करते हुए पूर्ण मुक्त दशा को प्राप्त होना माना गया है। योग वाशिष्ठ और पातञ्जल योग-सूत्र आदि ग्रन्थों में आत्म विकास की भूमिकाओं का विस्तार से कथन किया गया है। योग वाशिष्ठ में सप्त भूमिकाएँ अज्ञान की और सप्त ज्ञान की मानी हैं।

१. बीज जागृत
२. जागृत
३. महाजागृत
४. जागृत स्वप्न
५. स्वप्न
६. स्वप्न जागृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. सुषुप्तक
ये सात अज्ञान की भूमिकाएँ हैं।
१. शुभ इच्छा
२. विचारणा
३. तनु मानसा
४. सत्त्वापत्ति
५. असंसक्ति
६. पदार्था भाविनी
७. तूर्यगा
ये सात ज्ञान की भूमिकाएँ हैं।

अज्ञान की सप्त भूमि :

(१) इसमें अहंत्व तथा ममत्व की बुद्धि की जागृति नहीं होती। बीज रूप में जागृति की योग्यता होती है। यह भूमिका वनस्पति आदि क्षुद्र-निकाय में मानी जाती है।

(२) इस में अहंत्व एवं ममत्व बुद्धि अतिसूक्ष्म अंश में जागृत होती है।

(३) इसमें अहंत्व तथा ममत्व बुद्धि की विशेष रूप में पुष्टि होती है। यह भूमिका मानव और देवों में मानी जाती है।

(४) इसमें जागते हुए भी भ्रम का समावेश होता है। जैसे एक चन्द्र के दो चन्द्र देखना। शुक्ति में रजत का भ्रम हो जाना।

(५) इसमें निद्रा अवस्था में आए हुए स्वप्न का जागने के बाद भी भान होता है।

(६) इसमें वर्षों तक प्रारम्भ रहे हुए स्वप्न का समावेश होता है। शरीर पात हो जाने पर भी चलता रहता है।

(७) इसमें प्रगाढ़ निद्रा जैसी अवस्था हो जाती है। जड़ जैसी स्थिति हो जाती है। इसमें कर्म, केवल बासना रूप में रहते हैं।

ये सात अज्ञान की भूमिकाएँ हैं। इनमें तीसरी से सातवीं तक की भूमिकाएँ मानव निकाय में होती हैं।

ज्ञान की सप्त भूमि :

(१) इसमें आत्म-निरीक्षण की वैराग्यमय इच्छा होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) इसमें शास्त्र श्रवण, सत्संग और वैराग्य का अभ्यास एवं निरन्तर सदाचार में प्रवृत्ति बढ़ती जाती है।

(३) इसमें शुभ इच्छा और विचारणा के कारण विषयों में आसक्ति कम होती है।

(४) इसमें सत्य एवं शुद्ध आत्मा में स्थिति होती है।

(५) इसमें असंग रूप परिपाक से चित्त में निरतिशय आनन्द का प्रकटीकरण होता है।

(६) इसमें बाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थों की अनिच्छा हो जाती है।

(७) इसमें जीवन्मुक्त जैसी अवस्था होती है। भेदभाव नहीं रहता। विदेह मुक्ति की अवस्था इसके बाद में तूर्यातीत दशा है।

योग सूत्र में अन्य प्रकार से भी चित्त विकास की भूमिकाओं का वर्णन है। जैसे कि चित्त की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—मूढ, विक्षिप्त, क्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

बौद्ध दर्शन में गुण-विकास :

जैन दर्शन और वैदिक दर्शन की भाँति बौद्ध दर्शन में भी आत्मा के विकास क्रम के विषय में विचार किया गया है। उसमें भी आत्मा को संसार और मोक्ष दशाएँ मानी हैं। वहाँ विकास की षट् दशाओं का वर्णन है—

१. अन्ध पृथक् जन
२. कल्याण पृथक् जन
३. स्रोतसापन्न
४. सुकृदागामी
५. औपपातिक
६. अर्हन्।

पृथक्जन का अर्थ होता है—सामान्य मनुष्य। बौद्ध साहित्य में दश प्रकार के बन्धनों का वर्णन किया है। अन्ध पृथक जन और कल्याण पृथक् जन में दश प्रकार की संयोजनाएँ होती हैं। दोनों में अन्तर यह है कि पहले को आर्य दर्शन और सत्संग की प्राप्ति नहीं होती हैं। दूसरे को प्राप्त होती हैं। दोनों निर्वाण मार्ग से पराङ्मुख हैं। निर्वाण को प्राप्त करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वालों के चार प्रकार हैं। जिन्होंने तीन संयोजनाओं का क्षय किया, वे सोतापन्न होते हैं। जिन्होंने तीन संयोजनाओं का क्षय, और दो को शिथिल किया, वे सकदागामी, और जिन्होंने पाँच का क्षय किया, वे औपपातिक हैं। जिन्होंने दश का क्षय किया, वे अर्हन्।

इनमें प्रथम स्थिति आध्यात्मिक अविकास काल की है। दूसरी में विकास का अल्प अंश में परिस्फुरण होता है, लेकिन विकास की अपेक्षा अविकास का प्रभाव विशेष रहता है। तीसरी से छठी स्थिति आध्यात्मिक विकास के उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की है। विकास छठी स्थिति में परिपूर्ण हो जाता है, वह अर्हन् अथवा अरहा बन जाता है। बाद में निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।

आजीवक मत में विकास :

आजीवक मत में भी आत्म-विकास की स्थितियों का संकेत मिलता है। गोशालक ने भी गुणस्थानों जैसी अष्ट दशाओं की परिकल्पना की है। उसका बौद्ध साहित्य में उल्लेख भी है। आत्म-विकास के अष्ट सोपान आजीवक मत में कहे गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. मन्द
२. खिड्डा
३. पद वीमंसा
४. उज्जुगत
५. सेख
६. समण
७. जिन
८. पन्न।

(१) इसमें जन्मदिन से लेकर सात दिन तक गर्भ-निष्क्रमणजन्य दुःख के कारण आत्मा मन्द स्थिति में रहता है।

(२) इसमें दुर्गति से आकर जन्म लेने वाला बालक बार-बार रुदन करता है, सुगति से आने वाला वहाँ का स्मरण करके हास करता है। यह खिड्डा अर्थात् क्रीड़ा भूमिका है।

(३) इसमें माता-पिता के सहारे अथवा अन्य किसी का सहारा पाकर बालक भूमि पर कदम रखता है, चलना सीखता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(४) इसमें अपने पैरों से बिना किसी के सहारे के चलने की शक्ति प्राप्त करता है।

(५) इसमें शिल्पकला आदि का अध्ययन करने की योग्यता प्राप्त करता है।

(६) इसमें घर एवं परिवार छोड़कर श्रमण बन जाता है, संन्यास ग्रहण करता है।

(७) इसमें राग-द्वेष को जीतकर जिन बन जाता है। गुरु की उपासना भी वह करता है। विकास की पूर्ण भूमिका है।

(८) इसमें प्राज्ञ होकर बन्धनों से मुक्त हो जाता है। निर्वाण प्राप्त करता है।

इन अष्ट सोपानों में, प्रथम के तीन अविकास के हैं, और शेष पाँच आत्म-विकास के सूचक हैं। पातञ्जल, बौद्ध और आजीवक मत मान्य विकास भूमिकाओं में और जैन दर्शन में दर्शित गुणस्थानों में बहुत अन्तर है। गुणस्थानों में जो क्रमबद्धता, व्यवस्था और स्पष्टता है, वह अन्यत्र नहीं है। गुणस्थानों में आत्म विकास की जिस पद्धति का वर्णन किया जाता है, वह जैन विद्वानों का अपना मौलिक चिन्तन कहा जा सकता है, जो परंपरा से आज भी उपलब्ध है। इसके सम्बन्ध में विपुल साहित्य है।

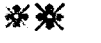

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शन
के
विशेष सिद्धान्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शन के विशेष-सिद्धान्त

भारतीय-दर्शनों में प्रत्येक दर्शन का अपना एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है और यह दृष्टिकोण ही उसके दर्शन का केन्द्रीय विचार अथवा मुख्य विचारण कही जाती है। भारत में जितने भी दार्शनिक सम्प्रदाय हुए है, प्रत्येक सम्प्रदाय अपने एक विशेष विचार को लेकर ही चला है। और अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसी को पुष्ट करने में लगा दी थी। यद्यपि भारतीय-दर्शनों में कुछ सामान्य बातें इस प्रकार की अवश्य है, जो सभी में समान रूप से कुछ हेर-फेर के साथ मिल जाती हैं। जैसे प्रमाण-मीमांसा प्रायः सभी की एक जैसी रहती है। लक्षण और स्वरूप में कोई भेद होने पर भी उसके उद्देश्य और उसके ध्येय में कुछ अन्तर नहीं रहता। आचार-मीमांसा भी भारतीय-दर्शनों में कुछ अन्तर के साथ एक जैसी ही चलती है। जैसे जैन परम्परा में जिसको पंच महाव्रत कहा गया, वैदिक-परम्परा में पाँच यम और बौद्ध परम्परा में उसी को पंचशील कहा गया है। भारतीय आचार-शास्त्र के मूल मन्तव्य यही है और शेष जो कुछ है इसी का विशेष विश्लेषण अथवा विस्तार है। तत्त्व-मीमांसा के सम्बन्ध में भारतीय-दर्शनों में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु उसमें भी समानता न हो, यह नहीं कहा जा सकता। तत्त्वों की संख्या में मतभेद हो सकता है, उनके स्वरूप के प्रतिपादन में भी मतभेद हो सकता है, पर यह सत्य है, कि भारत की प्रत्येक दार्शनिक-परम्परा ने तत्त्व के सम्बन्ध में विचार किया है। उन सभी तत्त्वों को कम से कम दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—जड़ और चेतन। इसमें किसी ने जड़ पर अधिक विश्लेषण प्रस्तुत किया, तो किसी ने चेतन पर अधिक बल दिया। किसी ने इसको प्रकृति और पुरुष कहा, तो किसी ने इसे जीव और अजीव कहा, परन्तु इन दो तत्त्वों का ही विकास और विस्तार भारतीय-तत्त्व-मीमांसा में किया गया है। कार्य-कारण-मीमांसा के सम्बन्ध में भी भारतीय-दर्शनों में समानता दृष्टिगोचर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होती है। इस प्रकार का एक भी सम्प्रदाय नहीं है, जो कार्य और कारण के नियमों को स्वीकार न करता हो। दर्शन-शास्त्र के ये ही सब मुख्य विषय रहे हैं।

भारतीय दर्शनों के केन्द्रीय विचार :

जैसा कि अभी कहा था, प्रत्येक दर्शन का अपना मुख्य विचार होता है। उस परम्परा के दार्शनिक विद्वान इधर-उधर घूम कर भी अपने उसी विचार का पोषण करते हैं। और यह प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं, कि हमारा मन्तव्य ही सत्यभूत है और उस सिद्धान्त को तर्क और वितर्कों से खूब परिपुष्ट किया जाता है। जैसे उपनिषदों की विचार-धारा का मुख्य उद्देश्य आत्मवाद है। जो कुछ है सो आत्मा ही है, आत्मा के अतिरिक्त अथवा चेतन के अतिरिक्त इस जगत में अन्य कुछ नहीं है। इसकी प्रतिक्रिया में चार्वाक का जड़वाद प्रसिद्ध है। चार्वाक-सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त जड़वाद ही है। उसने आत्मा के अस्तित्व से स्पष्ट इन्कार किया और कहा कि चार भूत के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। सब कुछ उसी का खेल है। गीता और महाभारत में इन विचारों के सूक्ष्म बीज उपलब्ध होते हैं। गीता ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया और निष्काम कर्मयोग पर विशेष बल दिया। जैन-दर्शन का मूल दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही समन्वयात्मक अथवा अनेकान्तमय रहा है। जैन-दर्शन में जो कुछ लिखा गया, वह सब अनेकान्तमय एवं स्याद्वादमय ही होता है। अतः जैन-दर्शन का अन्तिम परिणाम अनेकान्तवाद ही रहा। बौद्ध-दर्शन का परिपाक उसके शून्यवाद और विज्ञानवाद में हुआ। सांख्य-दर्शन की चरम परिणति को परिणामवाद कहा जा सकता है। योग-दर्शन में ध्यान और समाधि पर विशेष बल दिया गया है। न्याय-दर्शन का अपना उद्देश्य ईश्वरवाद रहा। ईश्वर का अस्तित्व पुष्ट प्रमाणों के आधार पर न्याय-दर्शन प्रस्तुत करता है। वैशेषिक दर्शन की विशेषता परमाणुवाद अथवा पदार्थ-मीमांसा रही है। मीमांसा-दर्शन ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति वेद के कर्म-काण्ड पर लगा दी थी। अतः मीमांसा-दर्शन की विशेष विचार-शक्ति वेदविहित कर्म एवं अनुष्ठान को सिद्ध करने में ही लगी। वेदान्त वेद के ज्ञानकाण्ड को ले कर चला। इस लिए वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त अद्वैतवाद, मायावाद अथवा ब्रह्मवाद रहा। वेदान्त-दर्शन की अन्तिम एवं चरम परिणति अद्वैतवाद में होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जड़वाद अथवा भौतिकवाद :

यथार्थ में जिसको जड़वाद कहा जाता है, आधुनिक दर्शनकार उसे भौतिकवाद अथवा वैज्ञानिक-भौतिकवाद कहते हैं। यूनान में इस जड़वाद अथवा भौतिकवाद का जन्म थेल्स की विचार-धारा के साथ ही हुआ था। भारत में इस विचार-धारा का प्रवर्तक चार्वाक-सम्प्रदाय माना जाता है। चार्वाक के अनुसार देखना ही विश्वास करना है। इस आधार पर जड़ वस्तु ही प्रत्यक्ष के योग्य है, क्योंकि वह देखी जा सकती है। इस जड़वादी-दर्शन में उन तथ्यों पर अथवा तत्त्वों पर विचार नहीं किया जाता, जो इन्द्रिय ग्राह्य न हों। जैसे आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म, परलोक, स्वर्ग और नरक आदि। जड़वादी-दार्शनिक लोगों की दृष्टि में इस प्रकार के तत्त्व विश्वास के योग्य नहीं हैं। उनका कहना है, कि यह सब कपोल कल्पना है, प्रलाप है, अथवा मूर्खता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। जड़वादी चार्वाक का कहना है, कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये ही चार निर्णायक तत्त्व हैं। भारतीय-दर्शन में इसी को जड़वाद की मूल सामग्री कहा गया है। सामान्य रूप से जड़वाद वह तत्त्वज्ञान है, जिसमें संसार और समाज दोनों से संबंधित तत्त्वों पर नयी दृष्टि से विचार किया गया है। यहाँ तत्त्व-ज्ञान का आशय है, कि जीवन और जगत की वास्तविकता का निश्चय हो जाना। प्रमाण के द्वारा भलीभाँति परखने के बाद जो वस्तु अबाधित रूप में सिद्ध हो सकती हो, जड़वाद में वही मुख्य तत्त्व है, और उसी को परमार्थ कहा गया है। जड़वादी तत्त्ववेत्ताओं ने इसी परमार्थ के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत किया था। इस मान्यता के आधार पर ही भारतीय-दर्शनों में इसे जड़वाद अर्थात् भौतिकवाद कहा गया।

जड़वाद का उद्देश्य :

जड़वाद का उद्देश्य क्या है ? इस सम्बन्ध में इतना ही कहा जा सकता है, कि जो कुछ वास्तविक है, उसी का विचार और विश्लेषण करना इसका मुख्य उद्देश्य रहा है। जो कुछ यहाँ प्रस्तुत न हो अथवा विद्यमान न हो, उस पर जड़वाद में विचार नहीं किया जाता। जड़वाद के अनुसार वेदनाशून्य अथवा ज्ञानशून्य पदार्थ ही जड़ हैं। उसका प्रतियोगी शब्द है—चेतन, जिसमें संवेदन एवं ज्ञान निहित रहता है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध विद्वान् लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने अपनी मराठी पुस्तक जड़वाद तथा अनीश्वरवाद में जड़वाद की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। शास्त्री जी के शब्दों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में उस पदार्थ को जड़ वस्तु कहते हैं, जो किसी ज्ञाता की अनुभूति में न रहता हुआ भी स्वतन्त्र रूप से रहता है, जिसे स्वयं किसी प्रकार की अनुभूति नहीं होती और जो स्वयं ज्ञान रूप अथवा चैतन्यस्वरूप नहीं होता। जैसे एक हीरा अनन्त काल से खान में पड़ा रहता है, जिसको न तो स्वयं किसी प्रकार की अनुभूति होती है, और न स्वयं चैतन्यस्वरूप है। इस प्रकार जड़वाद की परिभाषा एवं व्याख्या प्रस्तुत की है।

जड़ और चेतन का सम्बन्ध :

जड़वादी दार्शनिकों का मत है, कि प्रत्येक वस्तु जब चेतन अथवा जीवित अवस्था में आती है, तब उससे पूर्व वह अचेतन एवं अजीवित अवस्था में ही रहती है। प्रत्येक पदार्थ की पूर्व स्थिति जड़ और उत्तर स्थिति चेतन अवस्था की होती है। पदार्थ का यह चेतन रूप, वास्तव में उसके नैसर्गिक जड़ रूप का ही परिणाम है। अतः मूलतः जो पदार्थ जड़ होता है, वही चेतन अथवा जीव बनता है। चेतन वस्तु में लगन, बुद्धि अथवा अनुभूति रहती है। इस दृष्टि से विश्व में सबसे बड़ा मनुष्य माना जाता है। परन्तु वह मनुष्य न शाश्वत है, न सर्वव्यापी हो। जड़वाद के अनुसार मनुष्य अपने देश-काल में सीमित है। उसके जीवन का निर्माण जड़भूत तत्त्वों से ही हुआ है। इसी प्रकार पशु और पक्षी आदि के सम्बन्ध में तथा वनस्पति आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। जीव उसको कहते हैं, जो गतिशील हो और अनुभूति-शील हो। इस प्रकार की गति और अनुभूति जड़ पदार्थ में धीरे-धीरे विकास करते हुए आ जाती है। किसी जड़वादी से यह पूछा जाए, कि देह और देही में क्या अन्तर है? तब वह तपाक से जबाब देता है, कि दोनों एक ही हैं। जो कुछ देह है, देही उससे भिन्न नहीं है। किसी जीव पिण्ड अथवा चेतन पिण्ड का विश्लेषण करने पर यह निष्कर्ष निकलता है, कि उसका निर्माण विभिन्न जड़ द्रव्यों के संमिश्रण से हुआ है। वही मन, शरीर और आत्मा सब कुछ है। शरीर और आत्मा वस्तुतः दो नहीं हैं, क्योंकि जिसे हम जीव-शक्ति अथवा आत्म-शक्ति कहते हैं, वह शरीर से भिन्न नहीं है। जड़वादी विचारकों का यह सिद्धान्त है, कि शरीर के उत्पन्न होने से पहले और शरीर के नष्ट होने के बाद आत्मा भी नष्ट हो जाता है। जब शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा भी नष्ट हो जाता है, तब पुनर्जन्म अथवा परलोक का सिद्धान्त बनता ही नहीं। धर्म, पुण्य और पाप ये सब कुछ नहीं हैं। न कहीं जाना है और न कहीं से आना है। लगन और मस्तिष्क सम्बन्धी विकास की जो बातें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रत्यक्ष देखने में आती हैं, वे सभी शरीर के विकास पर निर्भर हैं। शरीर का जितना ही कम विकास होगा, ज्ञान भी उतनी ही कम मात्रा में विकसित होगा। सम्पूर्ण मनोवृत्तियाँ ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर हैं। इन ज्ञानेन्द्रियों के विकसित हुए बिना ज्ञान एवं आत्मा के विकास का मार्ग सीमित ही है। अतः शरीर से भिन्न न आत्मा का अस्तित्व है, और न मन का ही अस्तित्व है। देहात्मभाव के सम्बन्ध में आचार्य शंकर ने अपने शांकर भाष्य की प्रस्तावना में और समन्वय-सूत्र भाष्य के अन्त में कहा है, कि देह ही आत्मा है, यह प्रतीति समस्त जीव व्यापारों के मूल में कार्य करती है। उनका तो यहाँ तक कहना है, कि आत्मा को देह से भिन्न मानने वाले तत्त्ववेत्ता भी व्यावहारिक दृष्टि से स्वयं देहात्मवादी होते हैं। जैसा कि देखने में आता है, चार्वाक को छोड़कर भारतीय-तत्त्ववेत्ताओं ने यही स्वीकार किया है, कि आत्मा देह से अलग है, किन्तु चार्वाक का कहना है, कि देह आत्मा से भिन्न नहीं है। आधुनिक युग में जीव-शास्त्र और मानस-शास्त्र ने जो कुछ विश्लेषण एवं विचार किया है, उसके आधार से यही कहा जा सकता है, कि चार्वाक का जड़वाद अथवा भौतिकवाद ही उससे सिद्ध होगा। उक्त दोनों विद्याओं के आधार पर शरीर में शरीर से भिन्न चेतन की सिद्धि अभी तक नहीं हो सकी है। आज के भौतिकवादियों का विश्वास है, कि वे दिन अब दूर नहीं है, जबकि सभी लोग यह स्वीकार करने लगेंगे, कि जड़ तत्त्व के अतिरिक्त इस संसार में अन्य कोई तत्त्व सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार जड़वादी-दर्शन जड़ के आधार पर ही विश्व, जीवन और अन्य समस्याओं का समाधान आज तक करते आ रहे हैं।

द्रव्य का स्वरूप और स्वभाव :

जिस एक वस्तु से दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है, और जिसके गुण एवं धर्म होते हैं, उसे द्रव्य कहा जाता है। यह समस्त जगत द्रव्य और गुणों का ही पिण्ड है। ये भौतिक द्रव्य, जिनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं, उनमें यह अनेकता किसी के द्वारा निर्मित न होकर अपनी स्वाभाविक है। वास्तव में इसी को द्रव्यों का स्वरूप कहा गया है। संख्या, परिमाण और कार्यकारण भाग उसके अंग हैं। उनका निर्माण नहीं किया जा सकता, बल्कि उनमें प्रकृत रूप से वर्तमान रहने के कारण उनको पहचाना जाता है, उनकी संख्या की जाती है, और उनके साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता

---

१ भारतीय दर्शन—वाचस्पति गैरोला, पृ० ८०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। एक कुशल किसान बीज के कार्य-कारण भाव को पहचानता है। एक चतुर वैद्य रोग और रोग के कार्य-कारण भाव को जानता है। कृषक और वैद्य, बीज और रोग-नाश के कार्य-कारण के भाव को उत्पन्न नहीं करते। इस पर से यह सिद्ध हो जाता है, कि प्रत्येक व्यवस्थापक किसी वस्तु के स्वभाव में प्रकृत रूप से विद्यमान व्यवस्था को जानकर उस वस्तु का उपयोग एवं प्रयोग करता है। वह उसके स्वरूप को, स्वभाव को और व्यवस्था को उत्पन्न नहीं कर सकता। जड़वाद अपने समर्थन में इसी प्रकार के अन्य तर्क भी प्रस्तुत करना है, और कहता है, कि जगत में जो कुछ था, वही आज है और भविष्य में वही रहने वाला है।

परिवर्तनशीलता :

जड़वादी चार्वाक का कहना है, कि इसका अर्थ इतना ही है कि जड़ से भिन्न चेतन जैसी वस्तु अन्य नहीं है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है, कि जगत में किसी प्रकार का परिवर्तन न होता हो। परिवर्तन तो जगत का स्वभाव है, और वह रात-दिन होता ही रहता है। हम इच्छा करें अथवा न करें, पर परिवर्तन होता ही रहता है। प्रत्येक मनुष्य के सामने वस्तुओं के परिवर्तन के स्वरूप नित्य ही प्रकट होते रहते हैं। आज का विज्ञान कहता है, कि इस धरती पर पहले न तो कोई प्राणी था, और न वनस्पति ही। फिर धीरे-धीरे वनस्पति और प्राणी उत्पन्न हुए। सब से अन्त में मनुष्य आया। मनुष्य के उत्पन्न हो जाने से इस विश्व में अनेक परिवर्तन उसकी बुद्धि के कारण ही हुए। उसने समाज और जगत के अनेक नियम बनाए और उसमें भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहा। आज हम जिस विश्व में रहते हैं, उस विश्व का आदि स्वरूप आज से सर्वथा भिन्न था। वस्तु की इसी परिवर्तनशीलता का नाम ही वस्तुतः विश्व है। इस परिवर्तन के कारण विश्व का चक्र चल रहा है, जैसे यन्त्र का एक पहिया घूमा कि दूसरा स्वयं ही घूमने लगता है। अणु-रूप द्रव्यों से निर्मित इस जगत के अणुओं के आपस में मिलने, और उनके एक दूसरे से अलग हो जाने से ही गति का प्रारम्भ होता है। यही गति अथवा परिवर्तन प्रत्येक वस्तु का स्वाभाविक धर्म है। इस परिवर्तन का इतिहास कब से और कहाँ से प्रारम्भ होता है, इसका उत्तर इन जड़वादी दार्शनिकों के पास नहीं है। भौतिकवादी अथवा जड़वादी दार्शनिकों ने अपने ढंग से जगत का जो चिन्तन प्रस्तुत किया, उसी का यह परिणाम है, कि उन्होंने इस जगत की व्यवस्था को बदलने का प्रयत्न किया, और चेतनवाद से इन्कार करके जड़-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाद की मान्यता को पुष्ट करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी थी। आज जिस रूप में जड़वाद अथवा भौतिकवाद विकास कर रहा है, भविष्य में उसके क्या परिणाम होंगे यह नहीं कहा जा सकता। पर यह कहा जा सकता है, कि आज का भौतिकवादी-विज्ञान प्रकृति की शक्तियों का अथवा जड़वाद के तथ्यों का जो अध्ययन कर रहा है, उसी का परिणाम है रेडियो, टेलीविजन, वायुयान और आज का नवीन परमाणुवाद।

जड़वाद और अन्य दर्शन :

भारत के अन्य दार्शनिकों ने जड़वाद को स्वीकार न किया हो, यह नहीं कहा जा सकता। आत्मवादी दार्शनिकों ने जड़वाद का इसी अर्थ में खण्डन किया है, कि वह जड़ से अतिरिक्त चेतन को स्वीकार नहीं करता। आत्मवादी-दार्शनिक जड़वाद और भौतिकवाद को स्वीकार करते हैं, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मवादियों का आत्मा आखिर जड़ शरीर में तो रहना ही है। जब तक संसार अवस्था है, तब तक जड़ शरीर के साथ चेतन आत्मा का सम्बन्ध रहना ही है। फिर इस प्रत्यक्ष देह से आत्मवादी भी कैसे इन्कार कर सकता है ? अतः आत्मवादी दार्शनिकों को भी जड़वाद अथवा भौतिकवाद स्वीकार करना ही पड़ता है। जो शरीर आत्मा का आश्रय है, उसकी सत्यता से आँख बन्द करना आसान काम नहीं था। परन्तु अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने उस जड़वाद की विभिन्न रूपों में व्याख्या करके स्वीकृति प्रदान की है। जैन-दर्शन में जड़तत्त्व को पुद्गल कहा गया। बुद्ध भी पुद्गल अथवा द्रव्य कहता है। सांख्य-दर्शन में उसे प्रकृति कहा गया। कुछ भी क्यों न कहा गया हो, पर जड़ तत्त्व की स्वीकृति अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने दी है, और उसकी अपने ढंग से व्याख्या की है।

उपनिषदों में इस प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं, जो जड़वाद का समर्थन करते हैं। बुद्ध और महावीर के युग में इस विचार के अनेक दार्शनिक थे, जो जड़वाद का समर्थन करते थे। भगवान महावीर ने सूत्रकृतांग सूत्र में स्वमत और परमत का अथवा स्वसमय और परसमय का जो उपदेश दिया है, उसमें कहा गया है, कि उस युग में ३६३ मत प्रचलित थे। उसमें भूतवादी और चार्वाक की एक विचारधारा थी। बुद्ध ने ब्रह्मजाल-सुत्त में अपने युग के ६२ अन्य दार्शनिकों का और उनके मतों का वर्णन किया है। महाभारत और गीता में भी इस प्रकार के सूक्ष्म विचार उपलब्ध होते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं, जिनसे जड़वाद अथवा भौतिकवाद का प्राचीन काल में अस्तित्व प्रमाणित होता है। भारत में जो आस्तिक और नास्तिक शब्द प्रचलित हैं, उनसे भी यह सिद्ध होता है, कि जो लोग आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म जैसी वस्तुओं को स्वीकार नहीं करते थे, उन्हें नास्तिक कह दिया जाता था। भारतीय-दार्शनिक जो आज नयी विचारधारा के हैं, उनका कहना है, कि वेद और उपनिषदों के युग में भी भौतिकवादी विचार-धारा ने अपनी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा की। वैदिक-युग से लेकर आज तक की विचार-धारा में भी भौतिकवादी विचार-धारा विलुप्त नहीं हो सकी। भौतिकवादी विचार-धारा के भावि विकास की पृष्ठभूमि क्या होगी, यह कह सकना सरल नहीं होगा। परन्तु यह कहने में जरा भी सन्देह नहीं है कि, भौतिकवादी विचार-धारा प्राचीन युग से आज तक चली आ रही है, और आज के विज्ञान ने इसी की खोज, इसी की शोध और इसी का अनुसन्धान किया है। आज तक भौतिकवाद की जो खोज हुई है, वह आश्चर्य-जनक रही है।

शून्यवाद और विज्ञानवाद :

भारतीय-दर्शनों में विज्ञानवाद और शून्यवाद की चर्चा बहुत आती है। अन्य भारतीय-दार्शनिकों ने बौद्धों के इस विज्ञानवाद और और शून्य-वाद का जोरदार खण्डन किया है। बौद्धों ने भी शून्यवाद और विज्ञानवाद के मण्डन पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी थी। वास्तव में बौद्ध-दर्शन की चरम परिणति अथवा उसका अन्तिम फल शून्यवाद और विज्ञानवाद ही है। इस विज्ञानवाद और शून्यवाद ने भारतीय-चेतना को एक समय झकझोर दिया था। आचार्य नागार्जुन का दार्शनिक दृष्टिकोण शून्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। शून्यवाद दार्शनिक जगत का प्रभावशाली एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धांत माना गया है। नागार्जुन ने कहा—"शून्य एव धर्मः।" शून्य के अतिरिक्त अन्य कोई धर्म नहीं हो सकता। शून्य के परिचायक पंचविध धर्मों (वस्तु, विषय, अर्थ, पदार्थ और प्रमेय) का विस्तृत निरूपण आचार्य नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका में किया है। नागार्जुन का परम-तत्त्व अष्ट-निरोधक है। अष्ट-निषेधयुक्त अर्थात् अविरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अने-कार्थ, अनागम, निर्गम और अनानार्थ है। किन्तु यह सत्तात्मक है। इस प्रकार का सत्तात्मक शून्य जो स्वयं में कल्पनातीत अशब्द, अनक्षर एवं अगोचर है। नागार्जुन के मतानुसार समस्त प्रतीत्य-समुत्पन्न पदार्थों की स्वभावहीनता ही पारमार्थिक है।[1] उक्त पंचविध धर्मों की निःस्वाभाविकता

१ भारतीय दर्शन—वाचस्पति गैरोला, पृ. १७७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का नाम ही परमार्थ है। निर्वाण का दूसरा नाम ही परमार्थ सत्य है। निर्वाण की व्याख्या करते हुए आचार्य नागार्जुन ने कहा है, कि निर्वाण भाव और अभाव दोनों से अलग एक अनिर्वचनीय तत्त्व है। शून्यवाद के अनुसार समझा जाता है, कि यह सम्पूर्ण जगत शून्य है। जैसे जब हम किसी रस्सी को भ्रमवश अथवा अज्ञानवश साँप समझ बैठते हैं, तब ज्ञान वस्तु रस्सी के असत्य होने पर हम और हमारा ज्ञान दोनों स्वतः असत्य सिद्ध हो जाते हैं। इसी तर्क के आधार पर कहा जाता है, कि शून्यवादी दार्शनिकों की दृष्टि में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की कोई स्थिति न होने के कारण सब असत्य है। इस दृष्टि से संसार की सत्ता शून्य है। आचार्य नागार्जुन का यही शून्यवाद है।

शून्यवाद और प्रतीत्य-समुत्पादवाद :

बौद्ध-दर्शन का प्रतीत्य-समुत्पाद ही नागार्जुन का शून्यवाद है। आचार्य नागार्जुन ने कहा है, कि जो इस शून्यता को समझ लेता है, वही सब पदार्थों को समझ लेता है। और जो इसको नहीं समझ लेता है, वह कुछ भी नहीं समझता। जो सत्य है, वह निरपेक्ष है और उसका अस्तित्व किसी भी वस्तु पर निर्भर नहीं है। प्रत्येक वस्तु का यह अस्तित्व पारमार्थिक है। वस्तुओं का यही पारमार्थिक स्वरूप शून्य है, किन्तु उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। नागार्जुन के मतानुसार शून्यवाद का सिद्धान्त ही प्रतीत्य-समुत्पाद कहा जाता है। जो शून्यता को समझता है, वही प्रतीत्य-समुत्पाद को समझ सकता है। प्रतीत्य-समुत्पाद का ज्ञान प्राप्त करने पर चार आर्य-सत्य ग्रहण किए जा सकते हैं, और तभी पदार्थों का यथार्थ स्वरूप समझकर निर्वाण की प्राप्ति होती है। प्रतीत्य-समुत्पाद के सम्बन्ध में राहुल सांकृत्यायन ने कहा है, कि वह विच्छिन्न प्रवाह के रूप में उत्पत्ति है। यह प्रतीत्य-समुत्पाद ही धर्म, धर्म का हेतु और धर्म का फल है। इस प्रकार प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त बौद्ध-दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त है। इसके अनुसार सभी वस्तुएँ सत्य हैं। क्योंकि अच्छे अथवा बुरे रूप में उनके अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। जो है ही नहीं है, जो प्रतिषेध्य है, उसको सिद्ध नहीं किया जा सकता। समस्त सत्ताओं की सिद्धि शून्यता अथवा प्रतीत्य-समुत्पाद से है। किन्तु जिन प्रमाणों से भावों की वास्तविकता को सिद्ध किया जा सकता है, उन प्रमाणों को सिद्ध नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रमाण को सिद्ध करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। भावों की शून्यता भी प्रमाणित है।[1] आचार्य नागार्जुन के प्रबल समर्थक उन्हीं का शिष्य आर्यदेव था। आर्यदेव ने भी शून्य को ही परम तत्त्व कहा है, जिसको शब्द अथवा प्रमाण आदि से नहीं समझा जा सकता। शून्य के सम्बन्ध में आर्यदेव ने कहा है—वह न भाव है, न अभाव है, और न इन दोनों का संघात-विघात ही है। शून्यता को उसने निःस्वभाव कहा है, और इसी का दूसरा रूप प्रतीत्य-समुत्पाद को कहा है। इस प्रकार शून्यवाद के सम्बन्ध में बौद्ध-दार्शनिकों का मत चरम-सीमा पर पहुँच गया है।

बौद्ध-दर्शन का विज्ञानवाद :

बौद्ध-परम्परा एक सम्प्रदाय योगाचार मत है। यह सम्प्रदाय विज्ञानवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रतिबिम्ब के द्वारा बिम्ब का आनुमानिक ज्ञान असत्य एवं मिथ्या है। चित् ही एकमात्र सत्ता है, जिसके आभास को हम जगत के नाम से कहा करते हैं। इस मान्यता के अनुसार चित्त ही विज्ञान है। विज्ञानवादी-दार्शनिक बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते किन्तु वे एकमात्र चित्त के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, क्योंकि चित्त अथवा मन के द्वारा ही हम विचार किया करते हैं। चित्त की सत्ता को सर्वोच्च मानने के कारण विज्ञानवाद का कहना है, कि शरीर अथवा जितने भी अन्य पदार्थ हैं, वे सभी हमारे मन के भीतर विद्यमान हैं। जिस प्रकार हम स्वप्न अथवा मति-भ्रम के कारण वस्तुओं को बाह्य समझ बैठते हैं, उसी प्रकार मन की साधारण अवस्था में हमें जो पदार्थ बाह्य प्रतीत होते हैं, वे वास्तव में वैसे नहीं है। दृष्टि विकार के कारण ही हम वस्तुओं की बाह्यता को देखते हैं। यदि भ्रम से हम चन्द्रमा को दो देखते हैं, तो वह हमारे वस्तु-ज्ञान की कमी कही जाएगी। विज्ञानवाद की मान्यता है, कि जो वस्तु बाह्य प्रतीत होती है, वह मन के विकार के कारण से होती है। अतः ज्ञान से वस्तु को भिन्न मानने का कोई कारण ही नहीं है। संसार में जो विभिन्न वस्तुएँ हैं, उनकी सत्ता चित्त, मन अथवा ज्ञान के कारण ही है। अतः ज्ञान ही सब कुछ है, और उसी का प्रतिबिम्ब बाहर में नजर आता है। अतः वास्तविक सत्ता ज्ञान की है, बाह्य वस्तुओं की नहीं। बाह्य-वस्तु स्वप्न के समान मिथ्या है, और उनकी वास्तविक स्थिति नहीं है। विज्ञानवादी विभिन्न विज्ञानों का भण्डार होने से मन को आलय-विज्ञान कहते हैं। यह आलय-विज्ञान नित्य एवं अपरिवर्तनशील नहीं है, बल्कि परिवर्तनशील और

---

१ भारतीय-दर्शन (वाचस्पति गैरोला) पृष्ठ १७८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्त वृत्तियों का एक प्रवाह है। इस आलय-विज्ञान को आत्म-संयम एवं योगाभ्यास के द्वारा समझकर निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार योग का अर्थ है—जिज्ञासा और आचार। पहले समझो और फिर कहो।[1]

यहाँ पर यह समझ लेना चाहिए, कि माध्यमिक-सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त शून्यवाद है। इसके प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन थे। आचार्य नागार्जुन के आगमन से बौद्ध-दर्शन में नूतन-युग का सूत्रपात हुआ था। शून्यवाद के अनुसार चित्त अस्वतन्त्र है। पदार्थ की भाँति विज्ञान भी क्षणिक है। शून्यवाद ही परमार्थ है। जगत की सत्ता व्यावहारिक और शून्य की सत्ता पारमार्थिक है। पारमार्थिक शून्य ही सत्य है। विज्ञानवाद योगाचार का मुख्य सिद्धान्त है। आचार्य असंग और वसुबन्धु इसके मुख्य प्रवर्तक हैं। असंग और वसुबन्धु ने जिस विज्ञानवाद की स्थापना की थी, उसे प्रखर तर्कवादी दिङ्नाग और उसके शिष्य धर्मकीर्ति ने अपने प्रबल प्रमाणों के आधार पर विरोधी मतों से जोरदार टक्कर ली थी।

विज्ञानवाद और ब्रह्मवाद :

बौद्ध-दर्शन का सिद्धान्त विज्ञानवाद के नाम से और शंकर के अद्वैत-वेदान्त का सिद्धान्त ब्रह्मवाद के नाम से विख्यात हैं। बौद्ध-परम्परा के चार दार्शनिक सम्प्रदाय हुए—सौत्रांतिक, वैशेषिक, योगाचार और माध्यमिक। इनमें सौत्रांतिक और वैशेषिक बौद्ध-दार्शनिक घट एवं पट आदि बाह्य पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उन दोनों में अन्तर इतना ही है, कि सौत्रांतिक जहाँ बाह्य अर्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध मानते हैं, वहाँ वैशेषिक बाह्य अर्थों को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमान सिद्ध मानते हैं। किन्तु शून्यवादी और विज्ञानवादी दार्शनिक बाह्य अर्थों की सत्ता स्वीकार नहीं करते। वे दोनों क्रम से शून्यवाद और विज्ञानवाद को ही परम-सत्ता स्वीकार करते हैं, और बाह्य-सत्ता को स्वप्नवत् मिथ्या-भ्रम मानते हैं। विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है, बाह्य अर्थों का कोई अस्तित्व नहीं है। घट एवं पट आदि पदार्थ स्वप्न में दृष्ट वस्तुओं के समान केवल कल्पित एवं मिथ्या है। ज्ञान के द्वारा हम व्यावहारिक जगत के स्वप्नाविष्ट और दृष्टिगोचर, दोनों प्रकार के पदार्थों का बोध कर सकते हैं। ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थों का कोई अस्तित्व नहीं है।

---

१ भारतीय-दर्शन (वाचस्पति गैरोला), पृष्ठ, १७४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शंकर के ब्रह्मवाद के अनुसार इस परिवर्तनशील जगत का यथार्थ तत्त्व ब्रह्म है। यह जगत कल्पित और भ्रम मात्र है। आचार्य शंकर का कहना है, कि यह समग्र-विश्व ब्रह्म का विवर्त है। विवर्त का अर्थ है—अतात्त्विक अथवा अन्यथा प्रतीति होना। जैसे—रज्जु में सर्प की प्रतीति। शंकर का यह सिद्धान्त और उससे पूर्व भी गौड़वाद तथा मांडूक्य-उपनिषद् की कारिकाओं में जगत तथा ब्रह्म का यही दृष्टिकोण विवेचित है। शंकर का यह जगत विषयक अभिमत विज्ञानवादी बौद्धों के मतानुसार स्वप्नाविष्ट तथा परिकल्पित वस्तुओं के समान भ्रम मात्र है। उसका कोई अस्तित्व नहीं है। इस दृष्टि से बौद्धों के विज्ञानवाद और शंकर के ब्रह्मवाद में पर्याप्त समानता है। दोनों सिद्धान्तों को एक तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनमें कुछ अन्तर भी है। बौद्धों के विज्ञानवाद के अनुसार सब कुछ क्षणिक है। किन्तु शंकर के मतानुसार ब्रह्म नित्य है। फिर भी दोनों सिद्धान्तों में समानता इस बात में है, कि बौद्ध विज्ञान के अतिरिक्त और शंकर ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते। शायद इसी आधार पर शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया था।

बौद्ध-सिद्धान्त में क्षणिकवाद भी एक विशिष्ट सिद्धान्त माना गया है। बुद्ध और परवर्ती बौद्ध-दार्शनिकों ने वस्तु की सत्ता पर गम्भीर विचार करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं। बौद्ध-दर्शन के अनुसार बाहरी स्थूल जगत और आन्तरिक सूक्ष्म जगत-दोनों ही क्षणिक हैं। बुद्ध का यह दृष्टिकोण उपनिषदों के नित्यवादी आत्मवाद के विपरीत था। आत्मवाद के अनुसार क्षण-क्षण परिवर्तनशील इस स्थूल जगत के मूल में एक सूक्ष्म तत्त्व है, जिसका नाम आत्मा है। इसी आत्मवाद को ब्रह्मवाद कहा गया है, और वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप सत्, चित् तथा आनन्द बताया गया है। इस ब्रह्मवाद तथा आत्मवाद के विरोध में बौद्ध-दार्शनिकों ने अनित्यतावाद तथा क्षणिकवाद की प्रतिष्ठा की थी। जैन दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। उसका कहना है, कि पर्याय-दृष्टि से क्षणिकवाद सत्य हो सकता है, और द्रव्य-दृष्टि से नित्यतावाद भी सत्य है, परन्तु एकान्त क्षणिकता और एकान्त नित्यता मानना न तर्क संगत है, और न उससे किसी प्रकार का समाधान ही हो सकता है।

जैन दर्शन का अनेकान्तवाद और स्याद्वाद :

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद जैन-दर्शन की अपनी एक विशिष्टता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जैन-दर्शन का चरम विकास अनेकान्तवाद में होता है, और उसकी अभिव्यक्ति स्याद्वाद के द्वारा होती है। अनेकान्तवाद एक दृष्टि है, और स्याद्वाद उस दृष्टि को अभिव्यक्त करने वाली एक प्रकार की भाषा पद्धति है अथवा अनेकान्त विचार को जिस भाषा की आवश्यकता है, उसे स्याद्वाद कहा जा सकता है। यदि जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद प्राचीन-युग में अथवा मध्य-युग में न रहता, तो दार्शनिक जगत में युग-युग से चले आने वाले विवादों का अन्त भी न होता। अनेकान्त-दृष्टि जैन-परम्परा की एक मुख्य दृष्टि है। जैन-परम्परा का समग्र तत्त्व ज्ञान इस अनेकान्तवाद पर ही प्रतिष्ठित रहा है। भारतीय दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद और स्याद्वाद को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है, परन्तु वास्तव में इन दोनों का एक अर्थ नहीं है। सप्तभंगी में से स्याद्वाद का जन्म हुआ और सप्त नयों में से अनेकान्तवाद का विकास हुआ है। अनेकान्तवाद नय मूलक है, और स्याद्वाद सप्तभंगी मूलक। अनेकान्त यह एक विचार पद्धति है, जिसके आधार पर वस्तु-तत्त्व का अथवा सत्य का प्रतिपादन किया जाता है। आलंकारिक भाषा में अनेकान्तवाद को मानस चक्षु कहा जा सकता है। जैन-आचार और जैन-विचार का एक भी क्षेत्र इस प्रकार का नहीं है, जो अनेकांतवाद से शून्य हो। विचार और आचार दोनों में अनेकांत दृष्टि ही मुख्य रही है। जिस प्रकार दार्शनिक क्षेत्र में एकान्त विचार सम्यक् नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार आचार के क्षेत्र में एकान्त निषेध और एकान्त विधान भी सम्यक् नहीं कहा जा सकता। यही कारण है, कि जैन परम्परा के विद्वानों ने जहाँ अनेकान्तवाद का प्रयोग विचार के क्षेत्र में किया, वहाँ उसका प्रयोग आचार के क्षेत्र में भी किया गया। यदि अनेकान्तवाद आचार में एवं व्यवहार में प्रयुक्त न हो सके तो उसे जीवित अनेकान्तवाद कैसे कहा जा सकता है? परमार्थ और व्यवहार दोनों में अनेकान्त दृष्टि का उपयोग एवं प्रयोग जैन-दार्शनिकों ने सफलता के साथ किया है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। जैन-परम्परा के उन दार्शनिक आचार्यों ने, जिन्होंने अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की परिभाषा एवं व्याख्या की थी, उनके सामने दो उद्देश्य थे। अपने स्वयं के विचारों में सामञ्जस्य स्थापित करना और बाहर से होने वाले आघातों का तर्क पूर्ण उत्तर देना।

महावीर और बुद्ध :

भगवान महावीर और भगवान बुद्ध दोनों समकालीन थे, यह तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक ऐतिहासिक तथ्य है। दोनों का विहार, दोनों का रहन-सहन एक ही प्रान्त में रहा था। अतः यह आवश्यक था, कि एक-दूसरे के विचारों से अथवा एक-दूसरे की आचार पद्धति से उनका परिचय अवश्य रहा होगा। बुद्ध ने अपनी पद्धति से तत्त्व का निरूपण किया था, तो भगवान महावीर ने अपनी पद्धति से तत्त्व का निरूपण किया था। भगवान महावीर के दृष्टिकोण को अनेकान्तवाद कहा जाता है। यही जैन-परम्परा का मुख्य केन्द्र बिन्दु रहा है। भगवान महावीर के समान बुद्ध ने भी इस अनेकान्त-मयी दृष्टि को अपनाया था। बौद्ध-साहित्य में उसे विभज्यवाद अथवा मध्यम-प्रतिपदा दृष्टि कहा जाता है। प्रत्येक दर्शन की अपनी एक विशिष्टता होती है। यह विशिष्टता ही उस परम्परा का अथवा सम्प्रदाय का केन्द्रीय विचार कहा जा सकता है। जैसे वेदान्त का मुख्य विचार अद्वैत दृष्टि रहा है। इस अद्वैत दृष्टि को लेकर वेदान्त-परम्परा के विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से एक ही परम सत्य की अभिव्यक्ति की है। जैन-परम्परा का मुख्य विचार अनेकान्तवाद और स्याद्वाद ही रहा है। जीवन के प्रत्येक पहलू में अनेकान्त-दृष्टि का प्रभुत्व रहा है। तत्त्व-ज्ञान, विचार और आचार सर्वत्र अनेकान्त-दृष्टि परिव्याप्त होकर रही है। यही कारण है, कि जैन-दर्शन के अनेकान्तवाद का अथवा स्याद्वाद का उसकी समकालीन बौद्ध-परम्परा और वैदिक-परम्परा के आचार्यों ने अनेकान्तवाद की खूब आलोचना की थी। इस आलोचना से जैनाचार्य व्याकुल नहीं हुए, बल्कि और अधिक सतेज एवं प्रखर होते रहे। अनेकान्त-दृष्टि का तर्क के आधार पर विकास करने का जैनाचार्यों को अवसर मिला और उन्होंने इस अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाया। प्रमाण-शास्त्र और तत्त्व-शास्त्र के आधार पर अनेकान्त की व्याख्या करने वालों में आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य समन्त भद्र मुख्य रहे हैं, जिन्होंने अपने ग्रन्थों में अनेकान्त का प्रतिपादन किया, और उसकी युगानुकूल व्याख्या की।

जैन-दर्शन और अन्य दर्शन :

भगवान महावीर और भगवान बुद्ध को विभज्यवादी कहा जाता था। सूत्रकृतांग सूत्र में विभज्यवाद का उल्लेख है, और बौद्धों के मज्झिम निकाय में भी विभज्यवाद का उल्लेख है। यह विभज्यवाद क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है, कि किसी भी प्रश्न का उत्तर विभाग करके देना, इसी को विभज्यवाद कहा जाता है। सत्य क्या है, और असत्य क्या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है ? इसको समझने के लिए अथवा इसका विश्लेषण करने के लिए विभज्यवाद का प्रयोग किया जाता था। सूत्रकृतांग सूत्र में भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करे, इस प्रश्न के प्रसंग में कहा गया है, कि विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए। विभज्यवाद का अभिप्राय ठीक रूप में समझने के लिए हमें जैन टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थ भी सहायक होते हैं। बौद्ध-परम्परा के मज्झिम निकाय में शुभ माणवक के प्रश्न के उत्तर में भगवान बुद्ध ने कहा था—हे माणवक, मैं यहाँ विभज्यवादी हूँ, एकांतवादी नहीं। माणवक का प्रश्न था, कि मैंने सुन रखा है, कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता ? इसमें आपका क्या विचार है ? इस प्रश्न का एकांश उत्तर हाँ अथवा ना में न देकर भगवान बुद्ध ने कहा, कि गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है तो निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं, और त्यागी भी यदि मिथ्यात्वी है तो वह भी आराधक नहीं है। परन्तु यदि वे दोनों सम्यक्-दृष्टि हैं, तभी आराधक होते हैं। अपने इस प्रकार के उत्तर के बल पर बुद्ध अपने को विभज्यवादी कहा करते थे।[1] इस प्रकार बौद्ध सूत्र में एकांशवाद और विभाज्यवाद का परस्पर विरोध सूचित हो जाता है। जैन टीकाकार विभाज्यवाद का अर्थ—स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद करते हैं। एकान्तवाद और अनेकान्तवाद का भी परस्पर विरोध स्पष्ट ही है। इस प्रकार की स्थिति में सूत्रकृतांग गत विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद, नयवाद, अपेक्षावाद अथवा कथंचितवाद ही हो सकता है। अदेक्षा भेद से स्यात् शब्दांकित प्रयोग आगम में देखे जाते हैं। एकाधिक भंगों का स्याद्वाद भी आगम में मिलता है। अतः आगमकालीन अनेकान्तवाद अथवा विभज्यवाद को स्याद्वाद कहना ही अधिक उपयुक्त है। इतना अन्तर अवश्य है, कि बुद्ध का विभज्यवाद मर्यादित क्षेत्र में था, और भगवान महावीर के विभज्यवाद का क्षेत्र व्यापक था। यही कारण है, कि जैन-दर्शन आगे चलकर अनेकान्तवाद में परिवर्तित हो गया, और बौद्ध-दर्शन किसी अंश में विभज्यवादी होते हुए भी एकान्तवाद की ओर आगे बढ़ता हुआ एकान्त क्षणिकवादी हो गया। इस प्रकार अनेकान्त की आराधना एकान्त में बदल गई। जैन-परम्परा का और बौद्ध-परम्परा का विभज्यवाद केवल इन दो परम्पराओं तक ही सीमित नहीं था। आगे चलकर अन्य दर्शनों पर भी इस विभज्यवाद की छाप पड़ी। न्याय-सूत्र पर भाष्य रचना करने वाले वात्स्यायन ने कहा है—"यथादर्शन

१ आगम युग का जैन दर्शन, पृ० ४३, पं० दलसुखजी कृत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभाग वचनम्।" इसका अर्थ भी विभज्यवाद ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि सांख्य-दर्शन, न्याय-दर्शन, वेदान्त-दर्शन और वेदान्त-दर्शन की विभिन्न उपशाखाओं पर भी अनेकान्तवाद का स्पष्ट प्रभाव पड़ा था। वेदान्त-परम्परा में जो भेदाभेदवाद और द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद—इस प्रकार के वाद अनेकान्तमयी दृष्टि के अभाव में नहीं हो सकते। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में यह स्वाभाविक था, कि अनेकान्तवाद का प्रभाव मीमांसा-दर्शन और वेदान्त-दर्शन तथा सांख्य के परिणामवाद पर भी पड़ना आवश्यक था। हम देखते हैं, कि विभिन्न दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद का विरोध करते हुए भी उसे स्वीकार भी किया है, और अपने क्षेत्र में उसका प्रयोग एवं उपयोग भी किया है। इस पर से अनेकान्तवाद को सर्वव्यापकता एवं लोकप्रियता का सहज ही परिज्ञान हो जाता है।[1] अनेकान्तवाद पर इतना विचार करने पर निष्कर्ष यह निकलता है, कि अनेकान्तवाद का आधार सत्य रहा है।

नयवाद :

अनेकान्तवाद को समझने के लिए जैन-दर्शन के नयवाद को समझना भी परम आवश्यक है। क्योंकि नयवाद ही अनेकान्तवाद की पृष्ठभूमि रहा है। नयवाद क्या वस्तु है और उसका क्या स्वरूप है? इसके सम्बन्ध में जैन-परम्परा के साहित्य में पर्याप्त गम्भीरता से विचार किया गया है। तत्त्व का ज्ञान दो प्रकार से होता है—प्रमाण और नय। इस प्रकार का कथन आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र में किया है। किसी भी वस्तु का परिज्ञान करना हो तब उसके लिए प्रमाण और नय की आवश्यकता रहती है। बिना प्रमाण और नय के वस्तु का यथार्थ परिज्ञान नहीं हो सकता। प्रमाण और नय में इतना अन्तर है, कि प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करना है, और नय प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को जानता है। इस दृष्टि से नय की परिभाषा इस प्रकार होगी। ज्ञाता का वह अभिप्राय विशेष नय है, जो प्रमाण के द्वारा ज्ञात वस्तु के एक देश का स्पर्श करता है। वस्तु अनन्त धर्मात्मक है, प्रमाण-ज्ञान उसे समग्र भाव से ग्रहण करना है, उसमें अंश-विभाजन करने की ओर उसका लक्ष्य नहीं होता! जैसे यह घट है। इस ज्ञान में प्रमाण घट को अखण्ड भाव से उसके

---

१ जैन धर्म का प्राण, पृ. २०६, पं. सुखलालजी कृत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श आदि अनेक गुण धर्मों का विभाजन करके पूर्ण रूप में जानता है, जबकि कोई भी नय उसका विभाजन करके रूपवान घट एवं रसवान घट आदि रूप में उसे अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार जानता है। एक बात ध्यान में रखने की है, कि प्रमाण और नय ये दोनों ज्ञान ही हैं। जब ज्ञाता की अखण्ड के ग्रहण की दृष्टि होती है, तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाण से गृहीत वस्तु को खण्ड रूप में ग्रहण करने का अभिप्राय होता है, तब वह अभिप्राय नय कहा जाता है। प्रमाण ज्ञान नय की उत्पत्ति के लिए भूमि तैयार करता है, और सभी नय मिलकर अनेकान्तवाद की उत्पत्ति के लिए भूमि तैयार करते हैं। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है, कि नय प्रमाण है अथवा अप्रमाण ? इसका समाधान किया गया है, कि जैसे सागर और उसकी तरंग हैं, और तरंग को न हम सागर कह सकते हैं, और न असागर ही। ठीक इसी प्रकार हम प्रमाण और नय के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं। प्रमाण सागर है, और नय उसका तरंग। नय को न प्रमाण ही कहा जा सकता है, और न अप्रमाण ही। किन्तु प्रमाण का एक अंश कहने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं है।[1]

नय के भेद :

मुख्य रूप से नय के दो भेद किये जा सकते हैं सुनय और दुर्नय। यद्यपि अनेकान्तात्मक वस्तु के एक-एक अन्त अर्थात् धर्मों को विलय करने वाले अभिप्राय विशेष प्रमाण की ही सन्तान हैं, पर इनमें यदि समन्वय, परस्पर प्रीति और अपेक्षा है, तो यह सुनय है, अन्यथा दुर्नय। सुनय अनेकान्तात्मक वस्तु के किसी एक अंश को मुख्य भाव से ग्रहण करके भी अन्य अंशों का निराकरण नहीं करता, उनकी ओर तटस्थ भाव रखता है। जैसे पिता की सम्पत्ति में सभी पुत्रों का समान अधिकार होता है, और सपूत वही कहा जाता है, जो अपने अन्य बन्धुओं के अधिकार को प्रामाणिकता के साथ स्वीकार करता है, और दूसरे के अधिकार को हथियाने की चेष्टा नहीं करता, वैसे ही अनन्त धर्मात्मक वस्तु में सभी नयों का समान अधिकार है। पर सुनय वही कहा जायगा, जो अपने अंश को मुख्य रूप से ग्रहण करके भी अन्य के अंश को गौण तो करे पर उसका निराकरण

---

१ जैन-दर्शन, पृ. ४७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न करे, उसकी उपेक्षा न करे, बल्कि उनके अस्तित्व को स्वीकार करे। जो दूसरे का निराकरण करता है, और अपना ही अधिकार जमाता है, वह कलहकारी कपूत की भाँति दुर्नय कहा जाता है। इस प्रकार जैन-दर्शन में नयों का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया गया है, और इन नयों के आधार पर ही अनेकान्तवाद का भव्य प्रासाद खड़ा किया गया है। नयों के सम्बन्ध में अन्य प्रकार से भी जैन-दार्शनिक ग्रन्थों में विचार किया गया है, जिसे समझना आवश्यक है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक :

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इस प्रकार से भी नयों का विभाजन किया गया है। वस्तु में स्वरूपतः अभेद है, वह अखण्ड है, और अपने में एक मौलिक है। उसे अनेक गुण एवं पर्याय और धर्मों के द्वारा अनेक रूप में ग्रहण किया जाता है। दो प्रकार की दृष्टि होती है—अभेदगामिनी और भेदगामिनी। अभेद-ग्राहिणी-दृष्टि द्रव्य-दृष्टि कही जाती है, और भेद-ग्राहिणी-दृष्टि पर्याय-दृष्टि कही जाती है। द्रव्य को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक कहा जाता है। वस्तु भेदाभेदात्मक होती है। अभेद का अर्थ है—सामान्य और भेद का अर्थ है—विशेष। वस्तुओं में अभेद और भेद की कल्पना के दो प्रकार हैं— एक तो एक अभेद मौलिक द्रव्य में अपनी द्रव्य-शक्ति के कारण विवक्षित अभेद जो द्रव्य और ऊर्ध्वता सामान्य कहा जाता है। यह अपनी कालक्रम से होने वाली क्रमिक पर्यायों में ऊपर से नीचे तक व्याप्त रहने के कारण ऊर्ध्वतासामान्य कहा जाता है। यह जिस प्रकार अपनी क्रमिक पर्यायों को व्याप्त करता है, उसी प्रकार सहभागी गुण और धर्मों को भी व्याप्त करता है। दूसरी अभेद कल्पना विभिन्न सत्ता के अनेक द्रव्यों में संग्रह की दृष्टि से की जाती है। यह कल्पना शब्द-व्यवहार के लिए सादृश्य की अपेक्षा से की जाती है। जैसे अनेक स्वतन्त्र सत्ता वाले मनुष्यों में सादृश्य मूलक मनुष्य जाति की अपेक्षा मनुष्यत्व सामान्य की कल्पना तिर्यक्-सामान्य कहा जाता है। यह अनेक द्रव्यों में तिरछा चलता है। एक द्रव्य की पर्यायों में होने वाला भेद कल्पना पर्याय विशेष कहा जाता है, तथा विभिन्न द्रव्यों में प्रतीत होने वाला भेद व्यतिरेक विशेष कहा जाता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के अभेदों को विषय करने वाली द्रव्य दृष्टि है, और भेदों को विषय करने वाली दृष्टि

---

१ जैन-दर्शन, पृ. ४७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याय-दृष्टि है।' इन दो नयों के ही आगे चलकर सात भेद हो जाते हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। ये सात नय जैन-दर्शन में प्रसिद्ध हैं।

निश्चय नय और व्यवहार नय :

अभी तक नयों का जो विभाग किया गया था, वह दार्शनिक और तार्किक पद्धति से किया गया था। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से भी जैन-दर्शन के ग्रन्थों में नयों का भेद किया गया है—निश्चय और व्यवहार। अध्यात्म-शास्त्र में नयों के निश्चय और व्यवहार ये दो भेद प्रसिद्ध हैं। निश्चय-नय को भूतार्थ और व्यवहार-नय को अभूतार्थ भी कहा गया है। जिस प्रकार अद्वैतवाद में पारमार्थिक और व्यावहारिक दो रूपों में तथा शून्यवाद एवं विज्ञानवाद में परमार्थ और सांवृत दो रूपों में अथवा उपनिषदों में सूक्ष्म और स्थूल दो रूपों में तत्त्व के वर्णन की पद्धति देखी जाती है, उसी प्रकार अध्यात्म-शास्त्र में भी निश्चय और व्यवहार इन दो भेदों को स्वीकार किया गया है। अन्तर इतना है, कि जैन-अध्यात्मवाद का निश्चय-नय वस्तु की वास्तविक स्थिति को उपादान के आधार से ग्रहण करता है, पर वह अन्य पदार्थों के अस्तित्व का निषेध नहीं करता, जबकि वेदान्त अथवा विज्ञान का परमार्थ अन्य पदार्थों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। निश्चय-नय पर-निरपेक्ष स्वभाव का वर्णन करता है। जिन पर्यायों में परनिमित्त पड़ जाता है, उन्हें वह शुद्ध नहीं कहता। पर-जन्य पर्यायों को वह पर मानता है। जैसे जीव के राग एवं द्वेष आदि भावों में यद्यपि आत्मा स्वयं उपादान होता है, क्योंकि वही रागरूप से एवं द्वेष रूप से परिणत होता है। परन्तु ये भाव कर्म निमित्तक हैं। अतः इन्हें वह अपने आत्मा के निज रूप नहीं मानता। अन्य आत्माओं और जगत के समस्त अजीवों को तो वह अपना मान ही नहीं सकता, किन्तु जिन आत्म-विकास के स्थानों में पर का थोड़ा भी निमित्त होता है, उन्हें वह पर के खाते में ही डाल देता है। अतः समयसार में जब आत्मा के वर्ण, रस, स्पर्श एवं गन्ध आदि प्रसिद्ध पर रूपों का निषेध किया है, तो वहीं पर गुणस्थान आदि पर-निमित्तक स्वधर्मों का भी निषेध कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में निश्चय-नय अपने मूल लक्ष्य अथवा आदर्श का पूर्ण वर्णन

---

१ जैन-दर्शन, पृ. ४८१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करना चाहता है, जिससे साधक को भ्रम न हो और वह भटक न जाए। अतः आत्मा का निश्चय-नय से वर्णन करते समय शुद्ध ज्ञायक भाव ही आत्मा का स्वरूप कहा गया है। बन्ध और राग आदि को पर कोटि में डाल दिया है, जिसमें पुद्गल आदि प्रकट रूप में पर पदार्थ पड़े हुए हैं। व्यवहार-नय पर-सापेक्ष पर्यायों को ग्रहण करने वाला होता है। पर-द्रव्य तो स्वतन्त्र हैं, अतः उन्हें तो अपना कहने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार के आधार पर भी नयों का कथन जैन-दर्शन में उपलब्ध होता है। यह तो कहा ही जा चुका है, वस्तु के किसी एक ही अश या धर्म को पकड़ कर जो विचार किया जाता है, वह नय है। इन समस्त नयों का जो समुदाय अथवा सामूहिक रूप है, वही अनेकान्त है। अनेकान्तवाद का मूल आधार यह नय दृष्टि है। अतः नय दृष्टि को समझने के बाद ही अनेकान्तवाद को समझा जा सकता है। इस अनेकान्तवाद के आधार पर जैनाचार्यों ने अपने पूर्वकाल में अनेक दर्शनों का समन्वय किया था।

सप्त भंगी :

स्याद्वाद को समझने के लिए सप्त भंगी को समझना आवश्यक है। क्योंकि सप्त भंगी एक वह प्रकार है, जिसके आधार पर हम किसी भी प्रश्न का उत्तर अथवा समाधान दिया करते हैं। विभिन्न अपेक्षा, दृष्टि बिन्दु, अथवा मनोवृत्ति से एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न अर्थ हो सकते हैं। जब हम किसी भी प्रश्न का उत्तर देते हैं, तब उसके समाधान में हम जो कुछ कहते हैं, उस कथन की पद्धति सप्त भंगीवाद है। सप्त भंगी का अर्थ है—जिसमें सात भंग अथवा सात विकल्प हों। अनेकांत-दृष्टि अथवा नय-दृष्टि विराट वस्तु को जानने का वह प्रकार है, जिसमें विवक्षित धर्म को जानकर भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं किया जाता। उन्हें गौण अथवा अविवक्षित किया जाता है, और जिस प्रकार पूरी वस्तु का मुख्य गौण भाव से स्पर्श हो जाता है, उसका एक भी अंश छूटने नहीं पाता। जिस समय जो धर्म विवक्षित होता है, वह उस समय मुख्य एवं अर्पित बन जाता है, और शेष धर्म गौण अथवा अनर्पित बन जाते हैं। इस प्रकार जब मनुष्य की दृष्टि अनेकांत तत्त्व का स्पर्श करने वाली बन जाती है, तब उसके समझने का एवं समझाने का ढंग भी निराला ही हो जाता है। वह सोचता है, कि हमें उस शैली से अथवा पद्धति से वचन प्रयोग करना चाहिए, जिससे वस्तु-तत्त्व का यथार्थ प्रतिपादन हो। इस शैली अथवा भाषा के निर्दोष प्रकार की आवश्यकता ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याद्वाद को जन्म दिया। स्याद्वाद सुनय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा पद्धति है। स्यात् शब्द यह सुनिश्चित रूप से बताता है, कि वस्तु केवल इसी धर्म वाली नहीं है। उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म विद्यमान हैं। उसमें अविवक्षित गुण-धर्मों के अस्तित्व की रक्षा स्यात् शब्द करता है। जैसे रूपवान घट में स्यात् शब्द रूपवान के साथ नहीं जुड़ता, क्योंकि रूप के अस्तित्व की सूचना तो रूपवान स्वयं ही दे रहा है, किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मों के साथ उसका अन्वय है।[1] इस प्रकार स्याद्वाद उस वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करता है, जिसका निश्चय अनेकांतवाद से किया गया था। वस्तु की अनेकात्मकता और भाषा के निर्दोष प्रकार जो स्याद्वाद को समझ लेने के बाद सप्त-भंगी का स्वरूप और भेद समझना भी आवश्यक है। सात भंग इस प्रकार हैं—स्यादस्ति घटः, स्यात् नास्ति घटः, स्यादस्तिनास्ति घटः, स्यादवक्तव्यः घटः, स्यादस्ति अवक्तव्यः घटः, स्याद्-नास्ति अवक्तव्यः घटः और स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्यः घटः। इस प्रकार स्वचतुष्टय की अपेक्षा घट है और परचतुष्टय की अपेक्षा से घट नहीं है। अस्ति और नास्ति एक साथ नहीं कहा जा सकता। इसीलिए क्रमार्पित भंग बनता है। वस्तु के अनन्त धर्मों को एक समय में एक साथ नहीं कहा जा सकता। इसी आधार पर अवक्तव्य भंग बनता है। इस प्रकार सप्त भंगी में द्विसंयोगी और त्रिसंयोगी भंगों को मिलाकर सप्त भंग अर्थात् सात विकल्प स्वीकार किए गए हैं। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देते समय इन सप्त भंगों में से ही किसी भंग से दिया जाता है। इसमें मुख्य दृष्टि स्व और पर की है। संक्षेप में यह सप्त भंगी का स्वरूप है।

भंगों का इतिहास :

अनेकांतवाद और स्याद्वाद की चर्चा के प्रसंग में यह स्पष्ट हो गया है, कि भगवान महावीर ने परस्पर विरुद्ध धर्मों का स्वीकार एक ही धर्मी में किया, और इस प्रकार उनकी समन्वय की भावना में से अनेकांतवाद का जन्म हुआ है। किसी भी विषय में प्रथम अस्ति—विधि-पक्ष होता है। फिर दूसरा पक्ष नास्ति—निषेध-पक्ष लेकर खण्डन करता है। अतएव समन्वय करने वाले के सामने जब तक दोनों विरोधी पक्षों की उपस्थिति न हो, तब तक समन्वय का प्रश्न उठता ही नहीं। इस प्रकार अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद के मूल में अस्ति और नास्ति पक्ष का होना आवश्यक है। भंगों के

---

१ जैन दर्शन, पृ० ५१७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इतिहास की ओर यदि हम ध्यान दें, तो हमें सर्व-प्रथम ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में भंगों का कुछ आभास मिलता है। इस सूक्त के ऋषि के सामने दो मत थे—एक जगत् के आदि कारण को सत् कहता था, तो दूसरा असत्। इस प्रकार ऋषि के सामने जब समन्वय की सामग्री उपस्थित हुई, तब उसने कह दिया, कि वह सत् भी नहीं और असत् भी नहीं। इस प्रकार सत्, असत् और अनुभय—ये तीन पक्ष तो ऋग्वेद जितने पुराने सिद्ध होते हैं। उपनिषदों में आत्मा अथवा ब्रह्म को ही परम-तत्त्व मानकर के आन्तर एवं बाह्य सभी वस्तुओं को उसी का प्रपंच मानने की प्रवृत्ति हुई, तब यह स्वाभाविक है, कि अनेक विरोधों की भूमि ब्रह्म अथवा आत्मा ही बने। इसका परिणाम यह हुआ, कि उस आत्मा एवं ब्रह्म अथवा ब्रह्म-स्वरूप विश्व को ऋषियों ने अनेक विरोधी धर्मों से अलंकृत किया। जब उन विरोधों के तार्किक समन्वय में भी उन्हें सम्पूर्ण सन्तोष न हुआ, तब वचनागोचर अथवा अवक्तव्य और अनुभव-गम्य कहकर छोड़ दिया गया। इस प्रकार उपनिषद् वाक्यों में दो विरोधी धर्मों का स्वीकार किसी एक ही धर्मी में अपेक्षा भेद से किया गया है, यह स्पष्ट हो जाता है।[1] विधि और निषेध दोनों पक्षों का विधि मुख से समन्वय उन वाक्यों से हुआ है। ऋग्वेद के ऋषि ने दोनों विरोधी पक्षों को अस्वीकृत करके निषेध मुख से तीसरे अनुभय पक्ष को उपस्थित किया है। जबकि उपनिषदों के ऋषियों ने दोनों विरोधी धर्मों के स्वीकार के द्वारा उभय पक्ष का समन्वय करके उक्त वाक्यों में विधि-मुख से चतुर्थ उभय भंग का आविष्कार किया। इस प्रकार भंगों के संयोग और वियोग से सप्त-भंगी का जन्म हुआ।

स्याद्वाद के भंगों की विशेषता :

स्याद्वाद के भंगों में भगवान महावीर ने पूर्व के चार भंगों के अतिरिक्त अन्य भंगों की भी योजना की है। उपनिषद् वाक्यों में मांडूक्य को छोड़कर किसी एक भी ऋषि ने उक्त चारों पक्षों को स्वीकृत नहीं किया। किसी ने सत्-पक्ष को, किसी ने असत्-पक्ष को, और किसी ने उभय-पक्ष को तथा किसी ने अवक्तव्य-पक्ष को स्वीकृत किया है, जबकि मांडूक्य ने आत्मा के विषय में चारों पक्षों को स्वीकृत किया है। बौद्ध-साहित्य के त्रिपिटक में चार अव्याकृत प्रश्न और सजय के चार भंग और भगवान महावीर के स्याद्वाद के भंग इन सभी में परस्पर क्या विशेषता है, यह भी ध्यान देने

---

१ आगम-युग का जैन-दर्शन, पृष्ठ ९३, पं० दलसुख जी कृत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग्य है। इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी समय-समय पर विधि-निषेध, उभय और अनुभय को लेकर वस्तुस्थिति पर विचार किया था। आचार्य शंकर एवं धर्मकीर्ति आदि ने स्याद्वाद में विरोध, संशय और अज्ञान आदि जिन दोषों की उद्भावना की थी, उन सभी का निराकरण अपने-अपने युग के सभी जैनाचार्यों ने किया था। जैनाचार्यों ने तो बार-बार इस बात को उद्घोषणा की थी, कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है, और साथ में यह भी कहा, कि इस प्रकार का एक भी दर्शन नहीं है, जो किसी न किसी रूप में स्याद्वाद को स्वीकार न करता हो। सभी दर्शनों में स्याद्वाद को अपने-अपने ढंग से स्वीकार किया है। परन्तु इसका जितना क्रमबद्ध और व्यवस्थित वर्णन जैन-दार्शनिक-साहित्य में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र नहीं। कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी इस सिद्धान्त की समालोचना की है। उस समालोचना पर से ज्ञात होता है, कि कुछ ने तो इसको समझा ही नहीं, और कुछ ने इसे समझकर भी इसके साथ न्याय नहीं किया। किसी भी सिद्धान्त को सम्यक्तया न समझा जाए, तब तक उसकी आलोचना का अधिकार कैसे हो सकता है। वेदांत-परम्परा एकांत नित्यवाद पर बल देती रही है, जबकि दूसरी ओर बौद्ध-परम्परा एकांत क्षणिकवाद पर। इन दोनों का समन्वय ही अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद है।

वैशेषिक-दर्शन का परमाणुवाद :

वैशेषिक-दर्शन में पदार्थ-मीमांसा पर बड़ा बल दिया गया है। पदार्थ-मीमांसा जैसी वैशेषिक-दर्शन में हुई है, वैसी अन्य किसी दर्शन में नहीं। इसकी पदार्थ-मीमांसा व्यवस्थित और विस्तृत है। इसी पदार्थ-मीमांसा के अन्तर्गत परमाणुवाद भी आया है। भारतीय-दर्शन में सर्वप्रथम परमाणुवाद पर कणाद ऋषि ने ही विस्तार के साथ विचार किया था। यही कारण है, कि वैशेषिक-दर्शन परमाणुवादी अथवा पदार्थवादी कहा जाता है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य होते हैं, जिनके संयोग से अनित्य मूर्त द्रव्य उत्पन्न होते हैं। आकाश एक, विभु और नित्य है। इसके परमाणु नहीं होते। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के बने हुए मूर्त द्रव्य सावयव होते हैं। क्योंकि उन्हें खण्डों में विभक्त किया जा सकता है, और उन खण्डों को फिर और छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त किया जा सकता है। और अन्त में विभाजन की यह प्रक्रिया करते-करते हम परमाणु में जा पहुँचते हैं, जोकि अविभाज्य हैं। परमाणु वस्तुओं के सूक्ष्मतम अवयव है। वे अविभाज्य और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नित्य होते हैं, जबकि उनसे बने हुए द्रव्य विभाज्य और अनित्य होते हैं। विभाजन की यह प्रक्रिया परमाणुओं में जाकर समाप्त हो जाती है। परमाणु का परिमाण सूक्ष्मतम होता है। परमाणु एक-दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकते।

वैशेषिक-दर्शन की मान्यता है, कि परमाणु नित्य है। ईश्वर भी उनको उत्पन्न या नष्ट नहीं कर सकता। वे ईश्वर की भाँति अनादि और अनन्त हैं। वैशेषिक-दर्शन की मान्यता के अनुसार जगत का निर्माण परमाणुओं से ही होता है, जो उसके उपादान कारण हैं। वैशेषिक-दर्शन में ईश्वर को जगत का निमित्त कारण कहा गया है। परमाणु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा गया है, कि परमाणु स्वभावतः निष्क्रिय होते हैं। यदि वे निष्क्रिय हैं, तो फिर उनमें गति उत्पन्न कैसे होती है? यदि गति उत्पन्न नहीं होती है, तो फिर संयोग और विभाग कैसे होंगे? संयोग और विभाग के अभाव में न तो सृष्टि उत्पन्न हो सकती है, और न ही उसका प्रलय हो सकता है। इन सब प्रश्नों का उत्तर देने के लिए वैशेषिक-दर्शन में एक अदृष्ट नाम का पदार्थ माना गया है। यह अदृष्ट-पदार्थ ही परमाणुओं की गति का और मूर्त द्रव्यों की उत्पत्ति का कारण माना जाता है। बाद के नवीन वैशेषिक-दार्शनिकों ने अदृष्ट के स्थान पर ईश्वर को मानना प्रारम्भ किया, और कहा कि ईश्वर आत्माओं के अदृष्ट अर्थात् धर्म एवं अधर्म की सहायता से परमाणु में गति उत्पन्न करता है, और जीवात्माओं को सुख एवं दुःख का भोग कराने के लिए उनका संयोग करके मूर्त पदार्थ उत्पन्न करता है। इस प्रकार वैशेषिक-दर्शन में अदृष्ट, ईश्वर अथवा धर्म एवं अधर्म की परिकल्पना की गई है। इसकी अपेक्षा तो यही अधिक सुन्दर होता, कि परमाणुओं में स्वभावतः ही गति स्वीकार कर ली जाती। जैसा कि जैन-दर्शन स्वीकार करता है। जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक परमाणु में गति स्वाभाविक ही है।

परमाणुओं का स्वरूप :

पाँच भूतों में से चार परमाणुओं वाले हैं, और पाँचवाँ आकाश परमाणुओं से रहित है। आकाश का शेष भूतों से संयोग नहीं होता। क्योंकि वह अमूर्त है। मूर्त द्रव्यों के गुण परमाणुओं के गुणों के कारण उत्पन्न होते हैं। पाश्चात्य-दार्शनिक लॉक ने रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और ताप को गौण गुण तथा गुरुत्व, वेग, संख्या, परिमाण, परत्व और अपरत्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि को मुख्य-गुण माना था। परमाणुओं में मुख्य और गौण दोनों ही प्रकार के गुण होते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार परमाणु में चार गुण हैं—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श। जब दो परमाणुओं से मिलकर एक पदार्थ बनता है, तब उसे द्वयणुक कहा जाता है। वैशेषिक-दर्शन के अनुसार द्वयणुक का समवायि कारण दो परमाणु है, और असमवायि कारण उनका संयोग है, तथा निमित्त कारण अदृष्ट है। इस प्रकार परमाणु के संयोग और वियोग से स्थूल एवं सूक्ष्म पर्याय बदलती रहती है। पर्याय भले ही बदले, पर परमाणुओं का कभी विनाश नहीं होता। परमाणु इतना सूक्ष्म होता है, कि हम उसे देख नहीं सकते, लेकिन योगी, ऋषि और ईश्वर उन्हें देख सकते हैं। सामान्य मनुष्य को त्रसरेणु का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। प्रकाश में जो कण हमें नजर आते हैं, वे परमाणु नहीं हैं, बल्कि त्रसरेणु हैं। इस प्रकार परमाणु के स्वरूप का प्रतिपादन और व्याख्या की जाती है।

अस्तित्व में प्रमाण :

जब यह पूछा जाता है, कि परमाणु है? इसमें क्या प्रमाण है? इस प्रश्न के उत्तर में वैशेषिक-दार्शनिकों का कहना है, कि आकाश का परिमाण परम-महत्व होता है। अतः यह स्वाभाविक है, कि परम-महत्व परिमाण के विपरीत सर्वाति लघु परिमाण भी होना चाहिए। परमाणु का परिमाण सबसे लघु अथवा लघुतम कहा गया है। जैसे—विस्तार की एक निश्चित सीमा आकाश में नजर आती है, वैसे ही विभाजन की भी परमाणुओं में एक निश्चित सीमा होनी चाहिए। दूसरा प्रमाण यह दिया जाता है, कि जितने भी सावयव द्रव्य होते हैं, वे सब अनित्य होते हैं, और जो अनित्य होते हैं, उनकी उत्पत्ति भी होती है और विनाश भी होता है। वे परिवर्तनशील और विभाज्य होते हैं। अतः वे इस प्रकार के घटकों के बने हुए हैं, जो नित्य, अपरिवर्तनशील और अविभाज्य है। वास्तव में, ये घटक ही परमाणु है। तीसरा प्रमाण यह है, कि मूर्त द्रव्य विभागों में विभाजित होते हैं, और ये भाग और भी लघुतम भागों में, लेकिन विभाजन की यह प्रक्रिया अनन्त काल तक नहीं चल सकती। अनवस्था दोष से बचने के लिए हमें कहीं न कहीं रुकना होगा, और जहाँ हम रुकते हैं, वे ही परमाणु हैं, जिनका विभाजन नहीं हो सकता।[1] यदि मूर्त-द्रव्यों के विभाजन का कोई अन्त न माना जाए, तो उनमें से हर एक के अनन्त

---

१ भारतीय-दर्शन, पृष्ठ ९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवयव मानने पड़ेंगे, और उनका कोई अन्त नहीं होगा। इस स्थिति में उनके परिमाण भेद को भी नहीं समझा जा सकेगा। तब एक पर्वत और एक सरसों के बीज को तुल्य मानना पड़ेगा। क्योंकि दोनों ही के अनन्त सूक्ष्म अवयव होंगे। यही कारण है, कि परमाणुओं को मूर्त द्रव्यों के सूक्ष्मतम भाग और अविभाज्य मानना पड़ता है। वैशेषिक-दर्शन में परमाणु के स्वरूप के सम्बन्ध में बहुत सूक्ष्म विचारणा की गई है। वैशेषिक दर्शन में परमाणुवाद पर जितना गम्भीर विचार किया गया है, उतना अन्य किसी दर्शन-परम्परा में नहीं। जैन-परम्परा के मूल-आगम तथा तात्त्विक ग्रन्थों में भी परमाणुओं की गम्भीर चर्चा है।

यूनानी परमाणुवाद :

भारत से बाहर यूनान में भी परमाणु पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया गया है। कुछ लोगों का मत है, कि जब भारत का यूनान से सम्पर्क हुआ, तब वैशेषिक-दर्शन ने यूनान से परमाणुवाद को ले लिया था। परन्तु इस तथ्य को मानने के लिए किसी भी प्रकार का पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। लेकिन इतना सत्य अवश्य है, कि वैशेषिक परमाणुवाद और यूनानी परमाणुवाद एक नहीं है, उनमें बहुत बड़ा अन्तर है। यूनान में डिमोक्राइट्स और ल्यूशियस ने परमाणुओं की संख्या अनन्त मानी है, और उन्हें गुणों से रहित तथा परिमाण से युक्त कहा है। यदि परमाणुओं में किसी प्रकार का गुण न हो, तो उनसे उत्पन्न कार्य में गुण कैसे आ जाता है? इस तर्क का उत्तर यूनानियों के पास नहीं था। कणाद ने यूनानियों के मत के विपरीत परमाणुओं में गौण गुण भी माना है। दोनों मतों में दूसरा अन्तर यह है, कि यूनानी परमाणुओं को स्वभावतः सक्रिय मानते हैं, जबकि कणाद उन्हें स्वभावतः निष्क्रिय मानता है। तीसरा अन्तर यह है, कि डिमोक्राइट्स ने जीवात्माओं को भी सूक्ष्म परमाणुओं से निर्मित बताया, जबकि कणाद ने जीवात्माओं और परमाणुओं को परस्पर भिन्न बताया और कहा कि परमाणु भौतिक है और आत्मा अभौतिक है। चतुर्थ अन्तर यह है, कि डिमोक्राइट्स और ल्यूसियस भौतिकवादी थे, और समस्त संसार का मूल परमाणुओं को मानते थे। इस प्रकार दोनों में पर्याप्त भेदभाव नजर आता है।

वैशेषिक-दर्शन में परमाणुओं को भौतिक माना गया है, और आत्माओं को अभौतिक। वैशेषिक मत में ईश्वर भी भौतिक नहीं है। ईश्वर कर्म के नियम के अनुसार परमाणुओं से जगत का निर्माण करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। वह जगत का निमित्त कारण है, और परमाणु जगत के उपादान कारण हैं। जगत नैतिक प्रयोजन का साधक है। ईश्वर जीवों के सुख-दुःख के लिए उनके धर्माधर्म के अनुसार परमाणुओं से जगत को उत्पन्न करता है। धर्म सुख भोग का कारण है, और अधर्म दुःख भोग का। इस प्रकार वैशेषिक परमाणुवाद को सर्वथा भौतिकवादी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार वैशेषिक-दर्शन में परमाणुवाद पर अनेक दृष्टिकोणों से गम्भीर विचार किया गया है।

न्याय-दर्शन का ईश्वरवाद :

न्याय-दर्शन में दो सिद्धान्तों पर विशेष विचार किया गया है—प्रमाण और ईश्वर। प्रमाण के सम्बन्ध में जितना सूक्ष्म विवेचन न्याय-दर्शन में किया गया है, उतना अन्यत्र नहीं। प्रमाण का विभाजन, उसका लक्षण, और उसके स्वरूप का प्रतिपादन विस्तार के साथ किया गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चार प्रकार के प्रमाणों का, जो वस्तुतः हमारे ज्ञान के मूल आधार हैं, न्याय-दर्शन में इनका विश्लेषण और विवेचन अपनी चरम सीमा तक पहुँच चुका है। अन्य प्रमाणों की अपेक्षा भी अनुमान प्रमाण पर विशेष बल दिया गया है। न्याय-दर्शन का दूसरा विषय है—ईश्वरवाद। वास्तव में ईश्वरवाद न्याय-दर्शन का केन्द्रीय विचार कहा जा सकता है। न्याय-सूत्र प्रणेता गौतम, उसके भाष्यकार, वृत्तिकार और टीकाकार सभी ने ईश्वरवाद पर अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी है। 'न्याय-कुसुमांजलि' ग्रन्थ में तो ईश्वर सिद्धि एकमात्र विषय रखा गया है। इस प्रकार न्याय-दर्शन में विभिन्न तर्कों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि का प्रयत्न किया गया है। इसी आधार पर यह कहा जाता है, कि न्याय-दर्शन का मुख्य विषय ईश्वरवाद ही है।

गौतम ने ईश्वर का उल्लेख अपने मूल-सूत्रों में किया था। वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयन, जयन्त भट्ट और गंगेश तथा अन्य उत्तरकालीन नैयायिकों ने ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण-विस्तार से दिये हैं, और उसके स्वरूप का विस्तृत वर्णन किया है। न्याय-वैशेषिक के संयुक्त दर्शन के ग्रन्थकार ईश्वरवादी रहे हैं। नैयायिक लोगों का यह मानना है, कि ईश्वर की कृपा से जीव मोक्ष प्राप्त कर सकता है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन के साथ-साथ ईश्वर की कृपा को भी आत्म-ज्ञान का साधन न्याय-दर्शन में माना गया है। न्याय-ग्रन्थों में दो प्रश्नों पर विचार किया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है—ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण क्या हैं ? और ईश्वर का स्वरूप क्या है ? ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए न्याय-दर्शन में अनेक प्रकार के तर्क और वितर्क दिये हैं, जिसमें चार मुख्य हैं। इन तर्कों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है, कि ईश्वर है, और जगत रूप कार्य का कर्ता एक-मात्र वही है। क्रम से वे तर्क इस प्रकार हैं—

१. कारणाश्रित युक्ति (Causal argumant)—जगत एक कार्य है। कार्य बिना कारण के नहीं होता। प्रत्येक कार्य का कोई कारण अवश्य होता है। जगत रूप कार्य का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिए। जगत रूप कार्य का जो कारण है, वही ईश्वर है। न्याय-दर्शन ईश्वर को जगत का निमित्त कारण कहता है। प्रत्येक कार्य का कोई कर्ता होना चाहिए, जैसे घट का। जगत एक कार्य है, अतः उसका कोई कर्ता होना चाहिए। वह कर्ता ही ईश्वर है। जिस प्रकार घड़े का निर्माण करने वाला कुम्भकार होता है, उसी प्रकार जगत का निर्माण करने वाला ईश्वर है। इस तर्क में ये बातें मुख्य हैं—प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है, प्रत्येक कार्य का कोई चेतन कर्ता होना चाहिए, जगत एक कार्य है, जगत का कोई चेतन कर्ता होना चाहिए, जो कि ईश्वर ही हो सकता है। न्याय-दर्शन ईश्वर को जगत का निमित्त कारण और परमाणुओं को उसका उपादान कारण मानता है। ये परमाणु ईश्वर के समान ही नित्य हैं। परमाणु चार प्रकार के होते हैं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु। जगत में जितने भी कार्य होते हैं, उनके उपादान कारण ये परमाणु ही हैं। और ईश्वर प्रत्येक कार्य में निमित्त कारण रहता है। न्याय-दर्शन ईश्वर को जगत का निमित्त कारण मानता है, उपादान कारण नहीं। क्योंकि ईश्वर स्वय अपने स्वरूप से जगत की रचना नहीं करता, और न अपने संकल्प मात्र से उसे शून्य से उत्पन्न करता है। परमाणु देश और काल में सदा से अस्तित्व रखते हैं। उन्हीं का सयोग करके ईश्वर ने जगत की रचना की है। इससे जगत में एकता, व्यवस्था और सामञ्जस्य नजर आता है। इस प्रकार के जगत की उत्पत्ति परमाणुओं के क्रमहीन संयोग से नहीं मानी जा सकती। इस तर्क के आधार पर यह कहा जाता है, कि ईश्वर ही वह बुद्धिमान कर्ता है। ईश्वर को परमाणुओं का अपरोक्ष ज्ञान है। वह परमाणुओं से जगत का निर्माण करने की इच्छा रखता है, और उसके लिये प्रयत्न करता है। जगत की रचना करने वाला ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है तथा सब कुछ करने का उसमें सामर्थ्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. प्रयोजन पर आश्रित युक्ति (Teleological argument)—नदी, पर्वत और अन्य प्राकृतिक वस्तुओं में जो एक सन्निवेश अथवा व्यवस्था नजर आती है, वह यादृच्छिक नहीं माना जा सकता। इनका सन्निवेश वैसा ही है, जैसा घड़े, कपड़े और अन्य मनुष्य कृत वस्तुओं में नजर आता है। जो वस्तु सन्निवेश विशिष्ट होती है, उसका कर्ता कोई बुद्धिमान व्यक्ति ही हो सकता है। जिस प्रकार घट आदि वस्तुओं का सन्निवेश बुद्धिमान मनुष्य की इच्छा और क्रिया के कारण होता है, उसी प्रकार पर्वत आदि प्राकृतिक वस्तुओं की रचना सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर की इच्छा और क्रिया के कारण ही होती है।

पाश्चात्य दर्शन में ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए दो प्रकार के तर्क दिये गये हैं—जगत को एक कार्य बताकर यह युक्ति देना, कि उसका कोई कर्ता होना चाहिए। विश्वकारणाश्रित (cosmological) तर्क है। और जगत की व्यवस्था के आधार पर यह युक्ति देना, कि उसका कोई व्यवस्थापक होना चाहिए। प्रयोजनाश्रित (teleological) तर्क है। विश्वकारणाश्रित युक्ति ईश्वर को जगत का व्यवस्थापक सिद्ध करती है। पाश्चात्य-दर्शन में इन दोनों युक्तियों को अलग-अलग रखा गया है, परन्तु न्याय-दर्शन में इन दोनों को एक साथ मिला दिया गया है।[1] ईश्वर जगत का कर्ता ही नहीं है, धारण करता ही नहीं है, बल्कि इसके साथ ही ईश्वर जगत का संहार करने वाला भी है। प्रत्येक कार्य कालान्तर में नष्ट हो जाता है। ईश्वर जब चाहता है, तब बड़े-बड़े पदार्थों से लेकर द्वयणुकों तक समस्त संसार का संहार कर लेता है। इस प्रकार ईश्वर जगत का कर्ता, धर्ता और संहर्ता है।

३. नैतिक तर्क (Moral argument)—ईश्वर नित्य परमाणुओं से जीवात्माओं के धर्म और अधर्म के अनुसार उनको सुख और दुःख का भोग कराने के लिए जगत का निर्माण करता है। ईश्वर जगत की व्यवस्था कर्म के नैतिक नियम के अनुसार करता है। जो चीज कारण के नियम पर आश्रित भौतिक व्यवस्था प्रतीत होती है, वह यथार्थतः नैतिक व्यवस्था है। जगत की व्यवस्था जीवात्माओं की नैतिक आवश्यकताओं को पूरा करने की है। ईश्वरीय इच्छा से जो कार्य उत्पन्न होते हैं, वे जीवात्माओं की नैतिक योग्यताओं के अनुसार हैं। ईश्वर जगत को उत्पन्न करता है, ताकि

---

१ भारतीय दर्शन, पृ. १७०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवात्माओं को अपने-अपने धर्माधर्म के अनुसार फल मिल सके। न्याय-दर्शन में कहा गया है, कि ईश्वर परमाणुओं से जगत की रचना इस प्रकार करता है, कि जीवात्माओं को सुख एवं दुःख का उचित भोग मिल सके। संसारी आत्मा सत् और असत् कर्म करके धर्म और अधर्म का अर्जन करते हैं। सत् कर्म से धर्म होता है, और असत् कर्म से अधर्म। धर्म का फल सुख है और अधर्म का दुःख। सुख और दुःख बाह्य वस्तुओं पर भी निर्भर होते हैं, परन्तु वे सब कुछ ईश्वर की इच्छा पर निर्भर हैं।

४. वेदों के प्रामाण्य पर आश्रित युक्ति—न्याय-दर्शन वेदों को अनित्य और पौरुषेय मानता है। इसके विपरीत मीमांसा-दर्शन वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानता है। न्याय-दर्शन वेदों के प्रामाण्य से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करता है। ईश्वर वेदों का कर्ता और संहर्ता है। वेद नैतिक नियमों के भण्डार हैं और ईश्वर के आदेश रूप हैं। वेदों में जो विधि और निषेध हैं, वे सब ईश्वर के आदेश की अभिव्यक्ति हैं। वेद में जो कुछ कहा गया है, वह परमार्थतः सत्य है और तर्क एवं अनुमान से परे हैं। वेदों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से उन बातों का ज्ञान होता है। वेदों की सत्यता निर्विवाद और असंदिग्ध है। सबसे प्रबल प्रमाण तो यही है, कि ईश्वर उनका वक्ता है। ईश्वर पूर्ण और सर्वज्ञ है। उसके कर्तृत्व के कारण ही वेद प्रमाण हैं। ईश्वर वेदों के द्वारा जीवों को चरम सत्य का और नैतिक नियम का ज्ञान देता है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि न्याय-दर्शन अपने तर्कों के आधार पर ईश्वर की सिद्धि करता है। न्याय-दर्शन के अनुसार ईश्वर ही इस जगत का आधार है। ईश्वर की कृपा से ही संसारी आत्मा मोक्ष अथवा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। न्याय-दर्शन का ईश्वरवाद उसका सबसे अधिक प्रबल पक्ष माना जाता है।

सांख्य-दर्शन का परिणामवाद :

सांख्य-दर्शन का सबसे बड़ा सिद्धान्त परिणामवाद है। सांख्य-दर्शन सत्यार्थवादी है। उसका कहना है, कि कार्य अपने कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है। सांख्य का यह सिद्धान्त है, कि जगत का मूल प्रकृति के विकास से हुआ है, उसके एक विशेष कारण-सिद्धान्त पर आश्रित हैं। सांख्य-दर्शन का कारण-सिद्धान्त यह है, कि कार्य कारण में पहले से ही अव्यक्त रूप में रहता है। कार्य कारण का परिणाम होता है। दूसरे शब्दों में कार्य अभिव्यक्त कारण है। इसके विपरीत न्याय-दर्शन और वैशेषिक-दर्शन कार्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को एक सर्वथा नयी वस्तु (आरम्भ) मानते हैं। सांख्य को यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। सांख्य-दर्शन की मान्यता के अनुसार कार्य न एक नयी उत्पत्ति है, और न कारण में उसका अभाव होता है। न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त असत्कारणवाद अथवा आरम्भवाद के नाम से प्रसिद्ध है और सांख्य-दर्शन का सिद्धान्त सत्कार्यवाद अथवा परिणामवाद के नाम से प्रसिद्ध है। अद्वैत-वेदान्त भी कार्य का कारण में भाव मानने से सत्कार्यवाद को ही स्वीकार करता है। फिर भी अद्वैत-वेदान्त और सांख्यों के सिद्धान्तों में भेद है। सांख्य यह मानता है, कि कारण और कार्य समान रूप से सत्य होते हैं। और कार्य कारण का परिणाम होता है। इसके विपरीत अद्वैत-वेदान्त यह मानता है, कि कारण सत्य होता है, जबकि कार्य उसका विवर्त्त अर्थात् मिथ्या प्रतीति होता है। सांख्य परिणामवाद को मानता है, जबकि अद्वैत वेदान्त विवर्त्तवाद को। ये दोनों ही वाद सत्कार्यवाद के भिन्न-भिन्न रूप हैं। जैन-दर्शन भी परिणामवादी है। अतः वह सत्कार्यवादी है। वह विवर्त्तवाद में विश्वास नहीं करता। विवर्त्तवाद एक ऐसा सिद्धान्त है, कि जो सत्य वस्तु को भी मिथ्या और कल्पित सिद्ध करता है। अतः विश्व की समस्या का समाधान वास्तविकता के आधार पर परिणामवाद ही कर सकता है, विवर्त्तवाद नहीं। विवर्त्तवाद कारण (ब्रह्म) को तो सत्य मानता पर कार्य को असत्य, भ्रम और कल्पित मानता है, जो कि वस्तुतः अनुभव के आधार पर सत्य नहीं कहा जा सकता। परिणामवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य अपने कारण में प्रसुप्त है, निमित्त मिलने पर वह प्रकट हो जाता है।

प्रकृति और परिवर्तन :

सांख्य-दर्शन के अनुसार परिवर्तनशील घटनाओं का एक अधिष्ठान है। प्रारम्भ में वह सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था में रहती है। सांख्य-दर्शन के अनुसार साम्यावस्था निष्क्रिय अवस्था नहीं है, बल्कि सत्त्व, रज और तम की तुल्यबल की अवस्था है। पुरुष कार्य इस प्रकार के प्रभाव डालते हैं, जिससे गुणों की साम्यावस्था टूट जाती है, प्रकृति के परिणाम पुरुषों के भोग और मोक्ष के प्रयोजन से होता है, जब गुणों की साम्यावस्था टूट जाती है, तब कुछ अन्य गुणों को अभिभूत कर देते हैं, और प्रकृति का परिणाम प्रारम्भ हो जाता है। गुणों की न सृष्टि होती है, और न विनाश। सांख्य का यह सिद्धान्त परिणामवाद के नाम से प्रसिद्ध है। ईश्वर ने जगत को शून्य से नहीं बनाया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जगत प्रकृति का परिणाम है, जो कि उसका मूल कारण है। समस्त भौतिक कार्यों का उपादान कारण प्रकृति है। वह कूटस्थ और नित्य पुरुष का परिणाम नहीं हो सकता। संसार प्रकृति में से ही उत्पन्न होता है, और फिर प्रकृति में ही विलीन हो जाता है। स्वर्ग तिरोभाव से आविर्भाव, अविविक्त से विविक्त, अविशेष से विशेष, अलिंग से लिंग और युत सिद्ध से अयुत सिद्ध में प्रहुँचने की प्रक्रिया है। यह गुणों का उनके विचारों में बदलना है। गुण न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट। प्रकृति का परिणाम बुद्धि अथवा महत्त्व में होता है। महत्त्व का अहंकार में परिणाम होता है। अहंकार का एकादश इन्द्रियों और पांच तन्मात्राओं में परिणाम होता है। पांच तन्मात्राओं में से पांच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार एक सृष्टि की रचना होती है, और अन्त में यह सब कुछ सिमट कर प्रकृति में ही विलीन हो जाता है। विज्ञान भिक्षु ने विश्व परिणाम का वर्णन कुछ भिन्न प्रकार से किया है। विज्ञान-भिक्षु के अनुसार प्रकृति का महत्त्व, और महत्त्व का अहंकार में परिणाम होता है। अहंकार एक ओर एकादश इन्द्रियों में और दूसरी ओर पांच तन्मात्राओं में परिणाम होता है। पांच तन्मात्राओं से पांच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सांख्य-दर्शन के अनुसार जो भी कुछ कार्य है, वह सब प्रकृति का ही परिणाम है।

योग-दर्शन की समाधि :

योग-दर्शन एक साधना प्रधान दर्शन माना जाता है। इसमें ज्ञान के सिद्धान्तों की इतनी सूक्ष्म मीमांसा नहीं है, जितनी क्रियात्मक योग की। योग के आठ अंग माने जाते हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। पतञ्जलि ने अपने योग-सूत्रों में योग को चित्तवृत्ति निरोध कहा है। जबकि व्यास ने समाधि को योग कहा है। अतः योग के दो अर्थ हैं—चित्तवृत्ति-निरोध और समाधि। समाधि चित्त का सार्वभौम धर्म है। अभ्यास और वैराग्य से सभी योग की सिद्धि कर सकते हैं। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त—ये तीन प्रकार के चित्त योग के योग्य नहीं है। एकाग्र और निरुद्ध - ये दो चित्त ही योग साधना के योग्य हैं। योग अंगों के अभ्यास से ही योग की सिद्धि की जा सकती है। योग के सिद्ध हो जाने पर उसके परिणामस्वरूप दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, परचित्त ज्ञान और परचित्त प्रवेश आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है। योग-दर्शन में कहा गया है, कि यदि योगी इन सिद्धियों के मोह में पड़ गया, तो वह योग से भ्रष्ट हो जाता है। यदि वह उनकी उपेक्षा करता है, तो वह सदा के लिए योग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में स्थित हो जाता है। वास्तव में योग में मुख्य बात मानसिक अनुशासन है। इसके अभाव में योग की साधना नहीं हो सकती।

समाधि के प्रकार :

व्यास ने योग को समाधि कहा है, और उसे चित्त का सार्वभौम धर्म बताया है। व्यास ने यह भी कहा है, कि क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त चित्त भूमियाँ योग के अनुकूल नहीं हैं। एकाग्र और निरुद्ध ये दो भूमियाँ ही योग के अनुकूल हैं। समाधि दो प्रकार की होती है—संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात समाधि में वस्तु का सत्य स्वरूप प्रकाशित होता है। उसमें क्लेशों का क्षय हो जाता है। धर्म और अधर्म के बन्धन जो कि संसार से बांधने वाले हैं, ढीले पड़ जाते हैं। उस स्थिति में चित्त निरोध के योग्य हो जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्तियों का आत्यन्तिक निरोध हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि भी कहते हैं, क्योंकि उसमें चित्त एक वस्तु पर केन्द्रित रहता है, जिसके साथ उसकी समापत्ति (तादात्म्य रहती है। असम्प्रज्ञात समाधि निर्बीज समाधि कही जाती है, क्योंकि उसमें किसी वस्तु का निर्भास नहीं रहता है, बल्कि सब चित्तवृत्तियाँ और उसके संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। यह समाधि के मूल भेद हैं।

संप्रज्ञात समाधि के भेद :

संप्रज्ञात समाधि के छह भेद होते हैं—सवितर्क समाधि वह समाधि है, जिसमें स्थूल अर्थ के साथ-साथ उसके नाम और ज्ञान की भी चेतना रहती है। इस अवस्था में अर्थ की शुद्ध चेतना नहीं होती, बल्कि नाम और ज्ञान से युक्त अर्थ की चेतना होती है। यद्यपि अर्थ नाम और ज्ञान से सर्वथा पृथक् होता है। इसमें समाधि में प्रज्ञा शब्दार्थ ज्ञानानन्दविद्ध रहती है। दूसरी निर्वितर्क समाधि में चित्त की शब्द और ज्ञान से विमुक्त स्थूल अर्थ से समापत्ति रहती है। यह अर्थ मात्र निर्भास होती है। अर्थात् यह अर्थ के नाम के स्मरण से शून्य होती है। इसमें ज्ञान का भी बोध हो जाता है। यह अवस्था सब विकल्पों से शून्य होती है। तीसरी सविचार समाधि में चित्त की सूक्ष्म तन्मात्राओं में से किसी एक के साथ समापत्ति रहती है और साथ ही उसके देश, काल, कारणता और व्यक्त गुणों की भी प्रतीति रहती है। इन सब का ज्ञान एक ही साथ होता है। चतुर्थ निर्विचार समाधि में चित्त की शुद्ध तन्मात्रा से समापत्ति रहती है, उसके अतीत, अनागत और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान गुणों का ज्ञान नहीं रहता और न देश, काल और कारणता की प्रतीति रहती है। इसमें सूक्ष्म तन्मात्राओं का ज्ञान सब विकल्पों से रहित होता है। इसमें ज्ञान की चेतना भी लुप्त रहती है। इसमें ध्येय वस्तु न केवल कोई तन्मात्रा होती है, बल्कि अहंकार, बुद्धि अथवा प्रकृति भी हो सकती है। पाँचवीं आनन्दानुगन समाधि में चित्त की समापत्ति किसी स्थूल इन्द्रिय से होती है, जो कि अहंकार का परिणाम होती है, जिसमें सत्त्व और उसके आनन्द का आधिक्य रहता है। इसमें मैं सुखी हूँ, इस प्रकार की साक्षात्कारी प्रतीति होती है। इस समाधि में सानन्द और निरानन्द का भेद नहीं होता। छठी अस्मितानुगत समाधि में चित्त को अस्मिता से समापत्ति होती है। इसमें मैं हूँ इस तरह की साक्षात्कारी प्रतीति होती है। इसमें सास्मिता और निरस्मिता का भेद नहीं होता।[1] इस प्रकार संप्रज्ञात समाधि के भेदों का वर्णन यहाँ पर किया गया है। योग-दर्शन के अनुसार सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार समाधियाँ सबीज समाधि कही जाती हैं। इनमें अर्थों से समापत्ति होती है, जो कि उसके आलंबन होते हैं। प्रथम दो समाधियों में ध्येय-विषय का स्थूल अर्थ होता है। शेष दो में ध्येय विषय का सूक्ष्म अर्थ होता है। ये संप्रज्ञात-समाधि के प्रकार हैं। इन्हें सबीज इसलिए कहा जाता है, कि इनमें बन्ध के बीज, संस्कार वर्तमान रहते है। और इनमें विवेक ख्याति का अभाव रहता है, जो कि अविद्या का नाश करने वाली है। संप्रज्ञात समाधि के सम्बन्ध में जो वर्णन योग-शास्त्र में अथवा उसके भाष्य में उपलब्ध है, उसका संक्षिप्त सार इतना ही है।

असंप्रज्ञात समाधि :

असंप्रज्ञात समाधि को निर्बीज समाधि भी कहा जाता है। निर्बीज कहने का अभिप्राय यह है, कि उसमें वस्तु को चेतना का और बन्ध की बीज रूप अविद्या का अभाव रहता है। यह संप्रज्ञात समाधि और उसके अत्यधिक निरोध के बाद होती है। असंप्रज्ञात समाधि के संस्कार संप्रज्ञान समाधि के संस्कारों को अभिभूत करके उनका निषेध कर देते हैं। असंप्रज्ञात समाधि के चित्त का प्रकृति में लय हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं। जब चित्त नष्ट हो जाता है, तब आत्मा स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही

---

१ भारतीय दर्शन, पृ. २३७
२ भारतीय दर्शन, पृ. २३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा के मोक्ष की अवस्था है। यह ध्यान में रखने योग्य बात है, कि असंप्रज्ञात समाधि निरालंबन होती है, क्योंकि इसमें चित्तवृत्तियों का पूर्णतया निरोध हो जाता है।[1] फिर भी उनके संस्कार चित्त में शेष रह जाते हैं। इस प्रकार की समाधि को परम वैराग्य से सिद्ध किया जा सकता है। परम वैराग्य के निरन्तर अभ्यास से चित्त निरालम्बन हो जाता है, क्योंकि तब विषयों की सारी इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं। जब चित्त इस स्थिति में आ जाता है, कि वह विषयाकार नहीं होता, तब उसमें वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। जब वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं, तब चित्त का अभाव हो जाता है। यही असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था है। इसमें चित्त ज्ञान, वेदना और वृत्ति से शून्य होता है। लेकिन संस्कार उसमें बने रहते हैं। फिर अपर वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें विषयों की इच्छा का पूर्णतया निरोधाभाव नहीं होता। अपर वैराग्य से सम्प्रज्ञात समाधि का लाभ हो सकता है और पर वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है।[2] इस प्रकार योग-दर्शन में समाधि का स्वरूप, उसके भेद आदि का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है। साधक अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार उसकी साधना कर सकता है।

सांख्य और योग :

सांख्य और योग के सम्बन्ध में गीता में भी बहुत कुछ कहा गया है। वहाँ सांख्य को बुद्धि कहा गया है, और योग को कर्मयोग कहा गया है। वास्तव में जीवन की साधना के लिए ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता है। सांख्य-दर्शन ज्ञान-प्रधान है, और योग-दर्शन क्रिया-प्रधान है। सांख्य-दर्शन भेद-विज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताता है, जबकि योग-दर्शन चित्त की वृत्तियों का निरोध करके क्रियात्मक योग को साधना के द्वारा मोक्ष का विधान करता है। भारतीय-दर्शनों में एक वेदान्त-दर्शन ही एकमात्र ज्ञान पर बल देता है, इसके अतिरिक्त अन्य सभी दर्शन ज्ञान के साथ क्रिया एवं साधना का भी उतना ही अधिक महत्त्व स्वीकार करते हैं। सांख्य-दर्शन ने ज्ञान पर अधिक बल दिया तो योग-दर्शन ने क्रिया पर अधिक जोर दिया ? जैन-दर्शन भी ज्ञान-क्रिया के समन्वय से ही मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार करता है। उसका कहना है, कि ज्ञान के साथ क्रिया और

---

१ भारतीय दर्शन, पृ. २३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रिया के साथ ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। एकान्त क्रिया और एकान्त ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। बौद्ध-परम्परा में हीनयान क्रिया पर विशेष बल देता है, तो महायान ज्ञान पर विशेष बल देता है। इस प्रकार हम देखते हैं, कि सांख्य-दर्शन और योग-दर्शन ने एक दूसरे को पूर्ति करके जीवन-साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। सांख्य-दर्शन का ज्ञानी, जीवन की जिस चरम स्थिति पर पहुँचता है, योग-दर्शन का योगी भी अपनी योग-साधना के द्वारा चरम स्थिति पर पहुँच सकता है।

मीमांसा-दर्शन का कर्मवाद :

मीमांसा-दर्शन मुख्य रूप में कर्म की मीमांसा करता है। कर्म का अर्थ है—यज्ञ एवं याग आदि अनुष्ठान। मीमांसा-दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म की व्याख्या करना है। जैमिनि ने धर्म का लक्षण किया है—"**चोदना-लक्षणो अर्थः धर्मः**—चोदना के द्वारा परिलक्षित अर्थ धर्म कहा जाता है।" चोदना का अर्थ है—क्रिया का प्रवर्तक वचन अथवा वेद का विधि वाक्य। चोदना भूत, भविष्य एवं वर्तमान तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों को बतलाने में इतना समर्थ है, उतना सामर्थ्य न इन्द्रियों में है और न किसी अन्य पदार्थ में। मीमांसकों की विचारणा में श्रुति का तात्पर्य क्रियापरक ही है। मीमांसा-दर्शन की यह दृढ़ मान्यता है, कि विधि का प्रतिपादन ही वेद-वाक्यों का मुख्य तात्पर्य है। इसका अर्थ यह होता है, कि ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले वाक्य क्रिया की स्तुति अथवा निषेध प्रतिपादन करने के कारण परम्परा से क्रिया परक ही हैं। मीमांसा-दर्शन में इसको अर्थवाद कहा जाता है। अतः किसी प्रयोजन के उद्देश्य से वेद के द्वारा विहित यज्ञ एवं याग आदि अर्थ धर्म कहा जाता है। इन अर्थों के विधिवत् अनुष्ठान करने से पुरुषों को निश्रेयस् की—दुःखों को निवृत्त करने वाले स्वर्ग की—उपलब्धि होती है। जैसे "**स्वर्गकामो यजेत्**"—स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे, इस वाक्य में यजेत क्रिया पद के द्वारा भावना की उत्पत्ति मानी जाती है। मीमांसा-दर्शन का यह मुख्य विषय है।

वेद-विहित कर्मों के फलों के विषय में मीमांसक-दार्शनिकों में दो मत दृष्टिगोचर होते हैं। मीमांसा-दर्शन के अनुसार दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य का मुख्य लक्ष्य माना गया है। मनुष्यों की कर्म विशेष के अनुष्ठान में प्रवृत्ति तभी होती है, जब उससे किसी इष्ट एवं अभिलषित पदार्थ के सिद्ध होने का ज्ञान उन्हें होता है। अतः कुमारिल की दृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान इष्ट-साधन का ज्ञान कारण है, परन्तु प्रभाकर कार्यता ज्ञान को कारण अंगीकार करता है। उसके विचार के अनुसार वेद-विहित कृत्यों का अनुष्ठान कर्तव्य बुद्धि से करना चाहिए, उनसे न सुख पाने की आशा रखे और न अन्य किसी फल पाने की इच्छा। कुमारिल का कथन है—काम्य कर्म विशेष इच्छा की सिद्धि के लिए किये जाते हैं, इसके विपरीत प्रभाकर का मत है, कि काम्य-कर्म में कामना का निर्देश सच्चे अधिकारी की परीक्षा करने के लिए है—वैसी कामना करने वाला पुरुष उस कर्म का सच्चा अधिकारी सिद्ध होता है। इन दोनों का नित्य-कर्म के विषय में मतभेद स्पष्ट है। कुमारिल के मत में नित्य-कर्म—जैसे संध्या, वन्दन आदि के अनुष्ठान से पाप का नाश होता है, और अनुष्ठान के अभाव में पाप उत्पन्न होता है। परन्तु प्रभाकर के मत में नित्य-कर्म का अनुष्ठान वेद-विहित होने के कारण ही कर्तव्य रूप है। क्योंकि वेद की यह आज्ञा है, कि प्रतिदिन संध्या की उपासना करनी चाहिए। इस उद्देश्य से, कर्तव्य-कर्म होने की दृष्टि से इन कृत्यों को करना ही चाहिए। इस प्रकार निष्काम कर्म-योग की दृष्टि से कार्यों का सम्पादन प्रभाकर को अभीष्ट है। प्रतीत होता है, कि प्रभाकर के मत पर गीता के कर्म-योग का स्पष्ट प्रभाव है।

कर्म के तीन भेद :

मीमांसा-दर्शन में कर्म के तीन भेद हैं—काम्य, प्रतिषिद्ध और नित्य-नैमित्तिक। काम्य-कर्म का अर्थ है—किसी कामना विशेष के लिए किया जाने वाला कर्म। जैसे—**'स्वर्ग कामो यजेत'**। प्रतिषिद्ध का अर्थ है—अनर्थ उत्पादक होने से निषिद्ध। जैसे—**"कलञ्जं न भक्षयेत्"** अर्थात् विष-दग्ध-शस्त्र से मारे हुए पशु का मांस नहीं खाना चाहिए। नित्य-नैमित्तिक का अर्थ है—अहेतुक कर्म। जैसे—संध्या-वन्दन नित्य कर्म है, और अवसर विशेष पर अनुष्ठेय श्राद्ध आदि कर्म नैमित्तिक है। अनुष्ठान करते ही फल की निष्पत्ति शीघ्र नहीं होती, पर कालान्तर में अवश्य होती है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि फल काल में कर्म के अभाव में वह फलोत्पादक किस प्रकार होता है। मीमांसक दार्शनिकों का कहना है, कि अपूर्व के द्वारा। मीमांसा-दर्शन के अनुसार प्रत्येक कर्म में अपूर्व (पुण्यापुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है। कर्म से होता है—अपूर्व, और अपूर्व से होता है—फल। यही कारण है, कि मीमांसा-दर्शन में कर्म और कर्म-फल के मध्य में अपूर्व को माना है। शायद इसी कारण प्राचीन मीमांसा-दर्शन ईश्वरवादी नहीं था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेद की अपौरुषेयता :

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—पौरुषेय और अपौरुषेय। पौरुषेय वाक्य की प्रमाणता तभी मानी जाती है, जब वह आप्त-पुरुष के द्वारा व्यवहृत किया गया हो। अपौरुषेय स्वयं श्रुति है। हमारे आप के वचन पौरुषेय वाक्य हैं, परन्तु वेद अपौरुषेय है। इसके लिए मीमांसा-दर्शन में तीन प्रकार से तर्क प्रस्तुत किया जाता रहा है—

१. नैयायिक लोग वेद को ईश्वर की रचना मानते हैं, इसलिए वेद उनकी दृष्टि में पौरुषेय होता है। परन्तु मीमांसा-दर्शन ईश्वर की सत्ता नहीं मानता। अतः ईश्वर के अभाव में उसकी रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। इस तर्क से ईश्वर का निषेध किया गया है।

२. वेद में किसी कर्ता का नाम नहीं पाया जाता। कतिपय मन्त्रों में ऋषियों के नाम अवश्य पाये जाते हैं। परन्तु वे मन्त्रों के दृष्टा हैं, कर्ता नहीं। ऋषि शब्द का अर्थ ही दृष्टा है।

३. वेद की नित्यता का सर्वाधिक प्रबल प्रमाण है—शब्द की नित्यता, और दार्शनिक-दृष्टि से मीमांसकों का यह शब्द-नित्यतावाद बड़े ही महत्त्व का है। वेदों की नित्यता का सर्व-श्रेष्ठ साधक प्रमाण शब्दों की नित्यता है। वेद नित्य शब्द समूहात्मक हैं।

इस प्रकार मीमांसा-दर्शन में मुख्य रूप से दो ही विषयों का वर्णन किया जाता है। मीमांसा-दर्शन में पहले ईश्वर को नहीं माना गया था, किन्तु बाद में नवीन मीमांसा-दर्शन में ईश्वर को मान लिया गया। कार्य-कारण नियम को जिस प्रकार अन्य दर्शन स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार मीमांसा-दर्शन भी स्वीकार करता है, परन्तु उसकी अपनी एक नयी दृष्टि भी है। इस का तर्क है, कि कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण के अतिरिक्त शक्ति भी होनी चाहिए। बीज से अंकुर होते हैं, यह सत्य बात है, परन्तु यदि कारण से बीज की शक्ति नष्ट हो जाए, तो कितना भी परिश्रम करने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता। जब तक यह शक्ति अक्षुण्ण बनी रहती है, तभी तक बीज से अंकुर उत्पन्न हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार शक्ति एक विशिष्ट पदार्थ है। संक्षेप में मीमांसा-दर्शन की यही मान्यता रही है। मीमांसा-दर्शन सबसे प्राचीन दर्शन है, और वेदों की नित्यता इसका मुख्य विषय रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मवाद और मायावाद :

वेदान्त-दर्शन भारत का मुख्य दर्शन माना जाता है। मीमांसा-दर्शन कर्म पर बल देता है, तो वेदान्त ज्ञान पर। पूर्व-मीमांसा कर्मकाण्ड कहा जाता है, और उत्तर-मीमांसा ज्ञान-काण्ड। वेदान्त-दर्शन में आचार्य शंकर का ब्रह्मवाद और मायावाद विशेष प्रसिद्ध है। ब्रह्मवाद और मायावाद की जो व्याख्या आचार्य शंकर ने अपने अद्वैतवाद के आधार पर की है, उसे आचार्य शंकर के परवर्ती आचार्य मान्य नहीं करते। उन्होंने ब्रह्म और माया की व्याख्या अपने ढंग से की है। किन्तु अद्वैतवाद में ब्रह्म और माया की जो व्याख्या आचार्य शंकर ने की है, वस्तुतः मुख्य वेदान्त-दर्शन वही है।

ब्रह्मवाद :

आचार्य शंकर ने ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है—स्वरूप-लक्षण और तटस्थ-लक्षण। स्वरूप-लक्षण पदार्थ-सत्य तात्त्विक रूप का परिचय देता है, परन्तु तटस्थ-लक्षण कुछ देर तक होने वाले आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है। जैसे—कोई ब्राह्मण किसी नाटक में एक क्षत्रिय राजा की भूमिका ग्रहण कर रंगमंच पर आता है, जहाँ वह अपने शत्रुओं को पराजित करके विजेता बनता है, और अपनी प्रजा का अनुरंजन भी करता है। परन्तु इस ब्राह्मण के सत्य-स्वरूप का निर्णय करने के लिए क्या उसे राजा कहना उचित है? वह राजा अवश्य है, परन्तु कब तक? जब तक नाटक चलता रहता है। नाटक समाप्त होते ही, वह अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है। इस रूपक के आधार पर वेदान्त-दर्शन कहता है, कि उस व्यक्ति को क्षत्रिय राजा मानना तटस्थ-लक्षण है, और उसे ब्राह्मण मानना स्वरूप-लक्षण है। तटस्थ-लक्षण क्षणिक होता है, और स्वरूप-लक्षण शाश्वत। इस प्रकार वेदान्त-दर्शन में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द रूप है। यही ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण है। परन्तु यही ब्रह्म माया-अवच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म, अपर-ब्रह्म अथवा ईश्वर कहा जाता है, जो इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विलय का कारण होता है। ब्रह्म के दो रूप होते हैं—सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म। दोनों एक ही है, परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता से दो रूपों में गृहीत किए जाते हैं। जिस प्रकार संसार के पदार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असत्य और काल्पनिक हैं, उसी प्रकार जीव भी अविद्या के ऊपर आश्रित रहता है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है। इस ज्ञान के अभाव में ही जीव की सत्ता है। जीव ईश्वर की कल्पना उपासना के लिए करता है। ईश्वर जगत का स्वामी एवं नियन्ता है। वेदान्त में इसी को सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहा जाता है। इस प्रकार सगुण ब्रह्म की कल्पना उपासना के निमित्त व्यावहारिक दृष्टि से की जाती है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। आचार्य शंकर के मत में यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत—इन तीनों भेदों से रहित होता है। ब्रह्म अनिर्वचनीय है। क्योंकि उसमें किसी गुण की सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसी आधार पर इसे निर्गुण कहा जाता है। शंकर के मत में ब्रह्म के दो रूप होते हैं—विश्व और विश्वातीत। विश्व रूप में वह गुण सम्पन्न माना जाता है, परन्तु विश्वातीत रूप में वह अनिर्वचनीय रहता है। यही आचार्य शंकर के ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है।

मायावाद :

वेदान्त-दर्शन में माया का एक विचित्र स्वरूप है। निर्विशेष और निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष लक्षण जगत की उत्पत्ति क्यों होती है? अथवा एक ही ब्रह्म से नानात्मक जगत की रचना कैसे होती है? इन प्रश्नों का उत्तर मायावाद देता है। आचार्य शंकर ने अविद्या और माया दो शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप से किया है। परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में अर्थ भेद की कल्पना की है। परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम माया है। माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, और उभय रूप भी नहीं है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है, और न भिन्नाभिन्न है। अपितु वह अत्यन्त अद्‌भुत एवं अनिर्वचनीय है। माया की दो शक्ति होती हैं—आवरण तथा विक्षेप। आवरण-शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को आवृत कर देती है और विक्षेप-शक्ति उस ब्रह्म में आकाश आदि प्रपंच को उत्पन्न कर देती है। जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ दर्शकों के नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन विस्तृत आदित्य मण्डल को ढकता मालूम होता है, उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभव कर्ता की बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित-सा कर देता है। वेदान्त में इस शक्ति को आवरण कहा जाता है। जो शरीर के भीतर दृष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को ढक देती है। जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान रज्जु अपनी शक्ति से सर्प उत्पन्न करता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के बल पर आकाश आदि जगत प्रपंच को उत्पन्न करती है। इसी आधार पर इस दूसरी शक्ति का नाम विक्षेप कहा जाता है। आवरण का अर्थ है—वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देना, तथा विक्षेप का अर्थ है—उस पर दूसरी वस्तु का आरोप कर देना। ये दोनों माया हैं।

विवर्तवाद :

आचार्य शंकर की व्याख्या के अनुसार जगत ब्रह्म का परिणाम नहीं है, अपितु विवर्त है। विवर्तवाद क्या है? इसे समझाने के लिए वेदान्त परम्परा के आचार्यों ने बहुत कुछ लिखा है। कार्यों के रूप में जो हम परिवर्तन देखते हैं, वह केवल मानसिक आरोप है, वास्तविक नहीं है। इसी मानसिक आरोप को आचार्य शंकर ने अपनी परिभाषा के अनुसार अध्यास कहा है। कार्य-कारण की शृंखला पर विचार करने से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, कि कारण ही एकमात्र सत्ता है, उसके समस्त आकार एवं प्रकार मिथ्या हैं। कारण कि इस असत्य एवं काल्पनिक परिवर्तन को अद्वैतवाद की भाषा में विवर्त कहा जाता है। रज्जु के सर्प की प्रतीति विवर्तवाद है। वेदान्त सिद्धान्त में एकमात्र ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादान कारण माना गया है। सांख्य-दर्शन का परिणामवाद कहता है, कि कारण स्वयं ही कार्य रूप में बदल जाता है। परन्तु विवर्तवाद के अनुसार यह परिवर्तन अपने आप में सत्य नहीं है, मिथ्या है। ब्रह्म के अतिरिक्त इस जगत में जो कुछ प्रतीत होता है, वह वास्तव में सत्य नहीं है। जैसे स्वप्न में हम जो कुछ देखते हैं, वह सत्य नहीं होता। ब्रह्म जगत की असत्यता और काल्पनिकता की सिद्धि अद्वैत-वेदान्त अपने इसी विवर्तवाद और अध्यासवाद के आधार पर करता है। इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त में ब्रह्म और माया की व्याख्या की है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य दर्शन
की
पृष्ठ-भूमि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य दर्शन की पृष्ठ-भूमि

पाश्चात्य दर्शन उतना ही प्राचीन है, जितना कि भारतीय दर्शन। यूनानी दर्शन उसी युग का दर्शन है, जिस युग में यहाँ पर उपनिषद् दर्शन की रचना हो रही थी। पाश्चात्य दर्शन में यूनानी दर्शन सर्वाधिक प्राचीन है और अमेरिकी दर्शन सबसे आधुनिक दर्शन है। यूनान से लेकर अमेरिका तक पाश्चात्य दर्शन ने जिस प्रकार अपना विकास किया है, यह एक अनुसंधान का विषय हो सकता है, किन्तु इसमें जरा भी सन्देह नहीं, कि पाश्चात्य दर्शन का जन्म यूनान की धरती पर हुआ था। फिर उसका विकास रोम में हुआ। इंग्लैंड और फ्रांस में उसने अधिक विकास किया और जर्मनी में जाकर वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। अमरीका में जो आज दर्शन का विकास हो रहा है, वह एक अपनी नयी पद्धति का ही है। पाश्चात्य दर्शन को समझने के लिए उसके समालोचक यह कहा करते हैं, कि यूनानी दर्शन वस्तुवादी दर्शन है। डेकार्ट से लाइबनोज तक जो योरुप का दर्शन रहा है, वह भी वस्तुवादी दर्शन था। लॉक से ह्यूम तक का दर्शन अनुभववादी दर्शन रहा। कांट से हेगेल तक का दर्शन बुद्धिवादी दर्शन था। और अमरीका में वह व्यवहारवादी बन गया। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन ने जो प्रगति और विकास किया है, उसकी एक रूप-रेखा यहाँ प्रस्तुत की जा रही है। समग्र पाश्चात्य दर्शन का विस्तृत परिचय देना यहाँ शक्य नहीं है, फिर भी उसकी मुख्य धाराओं का और मुख्य सिद्धान्त एवं वादों का परिचय दिया जाएगा, जिससे कि पाठक यह समझ सकें, कि पाश्चात्य दर्शन का विकास किस शैली से होता रहा है। पाश्चात्य दर्शन को वस्तुतः दर्शन कहा जाए कि नहीं, इस प्रकार का विवाद भी कभी कभी उठा करता है। परन्तु हमें विचार करना है, कि वस्तुस्थिति क्या है और किस प्रकार पाश्चात्य दर्शन अपने विकास-क्षेत्र में अग्रसर होता रहा है। जिस प्रकार भारतीय दर्शन की अनेक धाराएँ हैं, फिर वे अपने में पूर्णतः स्वतन्त्र हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ यह नहीं है कि उसमें विचार साम्य न हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन-शास्त्र समाज, सभ्यता और संस्कृति की अमूल्य निधि माना गया है। किसी भी देश की सभ्यता और संस्कृति का वास्तविक परिचय पाने के लिए उसकी दार्शनिक विचार-धारा का ज्ञान आवश्यक होता है। पाश्चात्य दर्शन में पश्चिम के अनेक देशों की विविध विचार-धाराओं का संगम एवं समन्वय हुआ है। प्रधानतया उसमें तीन धाराएँ हैं—ग्रीक, ईसाई और आधुनिक दर्शन। इस त्रिवेणी का संगम ही पाश्चात्य दर्शन कहा जाता है, जिसमें विभिन्न युगों की विचार-धाराएँ एकत्रित हुई हैं। वास्तव में पाश्चात्य दर्शन का प्रारम्भ ग्रीक विचारक थीली से होता है। और जर्मन दार्शनिक हेगेल में जाकर वह परिसमाप्त हो जाता है। हेगेल के बाद भी योरुप में अनेक दार्शनिक हुए हैं, किन्तु हेगेल ने दर्शन-शास्त्र को चरम सीमा तक पहुँचाने का श्रेय प्राप्त किया था। भारतीय दर्शन में जो स्थिति बौद्धों के शून्यवाद और विज्ञानवाद की है तथा वेदान्त परम्परा में अद्वैत वेदान्त की है, वही स्थिति जर्मनी में हेगेल के दर्शन की है। योरुप का दर्शन वहां परिसमाप्त हो जाता है। हेगेल के बाद में होने वाले दार्शनिकों ने नया विचार या नयी कल्पना न दी हो, यह तो नहीं कहा जा सकता। पर यह कहा जा सकता है, कि जो सर्वांगीणता काण्ट और हेगेल में है, वह योरुप के अन्य किसी दार्शनिक में दृष्टिगोचर नहीं होती। वैसे तो प्रत्येक युग में कोई न कोई महान दार्शनिक होता रहा है, जैसे ग्रीक दर्शन का चरम विकास हम अरस्तू में देखते हैं। योरुप के दर्शन का चरम विकास बर्कले और ह्यूम में देखा जाता है। उसी प्रकार जर्मन दर्शन का चरम विकास काण्ट और हेगेल में देखा जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन के प्रमुख वाद व्यक्तियों के नाम से नहीं, बल्कि सिद्धान्तवाद के आधार पर वहाँ प्रकट हुए थे। इन पाश्चात्य विचार धाराओं में कहीं पर संगति नजर आती है, और कहीं पर विसंगति भी नजर आती है। शायद इसका अर्थ इतना हो है, कि योरुप का प्रत्येक दार्शनिक अपने में स्वतन्त्र रहा है, भारतीय दार्शनिकों की तरह वह किसी परम्परा में आबद्ध होकर नहीं चला।

पूर्वी और पश्चिमी दर्शन :

दर्शन-शास्त्र के समालोचक लोग यह कहा करते हैं, कि भारतीय दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है और पाश्चात्य दर्शन भौतिकवादी दर्शन है। उनका यह कथन किस तथ्य पर आधारित है यह तो वे ही जानें, पर पश्चिमी दर्शन को भौतिकवादी दर्शन कहना तर्कसगत एवं बुद्धिसंगत नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। यदि अध्यात्मवादी दर्शन का अर्थ उस दर्शन से है, जिसमें जगत, जीव और ईश्वर की चर्चा को जाती है, तब निश्चय ही पाश्चात्य दर्शन भी उतना ही आध्यात्मिक है, जितना कि भारतीय दर्शन। क्योंकि पाश्चात्य दर्शन में भी जगत, जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया गया है। पाश्चात्य दर्शन भी कोई ऐसी धारा नहीं है, जिसमें इन तीन समस्याओं पर विचार न किया गया हो। फिर किस आधार पर यह कहा जाता है, कि पाश्चात्य दर्शन भौतिकवादी है। दूसरी बात पाश्चात्य दर्शन के सम्बन्ध में भारतीय आलोचक यह कहते आ रहे हैं, कि पश्चिमी दर्शन का जहाँ अन्त होता है, भारतीय दर्शन का वहाँ से प्रारम्भ होता है। इसका अर्थ यह है कि पाश्चात्य दर्शन ने जो अपना चरम विकास किया, उतना विकास तो हमारे भारतीय दर्शन के प्रारम्भ में ही हो चुका था। इसमें आत्म प्रशंसा और आत्म विकत्थन के अतिरिक्त अन्य कुछ हो नहीं सकता। भारतीय दर्शन की जो स्थिति वेद युग में रही है, वही स्थिति पाश्चात्य दर्शन की ग्रीक दर्शन में मानी जा सकती है। मेरे अपने विचार में पाश्चात्य दर्शन में और भारतीय दर्शन में किसी भी प्रकार का विरोध अथवा विसगति नजर नही आती। मेरा अपना यही विचार है, कि यूनानी युग में यूनान के दर्शन पर भारतीय दर्शन की छाप पड़ी हो, इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। कुछ लोग पायथागोरस के सम्बन्ध में, जो एक महान ग्रीक विचारक था, कहा करते हैं कि वे भारत में आये थे और यहाँ से भारतीय विचारों को लेकर वापिस अपने देश में लौटे। परन्तु ये सब कपोल कल्पित बातें है। इसके पीछे कोई ठोस प्रमाण या आधार नहीं है। यूनान का और भारत का सम्बन्ध कब से स्थापित हुआ, यह एक अनुसन्धान का विषय हो सकता है, परन्तु यह निश्चित है कि यूनानी विचारधारा और भारतीय विचारधारा अपने में पूर्णतः स्वतन्त्र है। एक दूसरे पर आधारित नहीं है। दोनों दर्शनों में प्रायः एक जैसे विषयों का विवेचन हुआ है। इतना सत्य अवश्य है, कि आत्मा का जितना सूक्ष्म विवेचन और उसके साथ पुनर्जन्म आर मोक्ष का विवेचन जितना व्यापक भारतीय दर्शन में हुआ है, उतना पश्चिमी दर्शन में नहीं हो सका। पर आत्मा, मोक्ष और पुनर्जन्म का वर्णन पाश्चात्य दर्शन में सर्वथा ही न हुआ हो, यह बात अर्थहीन है। पश्चिमी दर्शन में और भारतीय दर्शन में कुछ बातों को लेकर अवश्य ही भेद हो सकता है।

पश्चिमी दर्शन में अनुभव को खण्डित रूप में लिया गया है, और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय दर्शन में अखण्ड रूप में। वहाँ प्रत्यक्षवाद, अनुमानवाद, युक्तिवाद, प्रतिभावाद और रहस्यवाद की धाराएँ भिन्न-भिन्न रूप में प्रवाहित हुई हैं। जबकि यहाँ प्रत्येक दर्शन में प्रत्यक्ष, युक्ति, प्रतिभा ज्ञान एवं रहस्यवाद का उपयोग होता रहा है और सदैव इनका समन्वय होता रहा है। परिणामस्वरूप भारत में विशुद्ध प्रत्यक्षवाद, विशुद्ध युक्तिवाद और विशुद्ध प्रतिभावाद का विकास नहीं हो सका। रहस्यवाद का विकास अवश्य हुआ है, वह स्वतन्त्र रूप से भी हुआ है। पर उसका विकास संस्कृत साहित्य में न होकर सन्त-दर्शन में हुआ, जिसका आधार संस्कृत भाषा न होकर हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला और कन्नड़ जैसी प्रान्तीय भाषाएं रही हैं। पर शुद्ध प्रत्यक्षवाद अथवा शुद्ध तर्कवाद का स्वतन्त्र विश्लेषण भारत की किसी भी भाषा में अथवा परम्परा में नहीं रहा। इसका कारण यह है, कि यहाँ अनुभव की सर्वांगीणता का उपयोग होता रहा है, और किसी खण्डित अनुभव को लेकर दार्शनिक सम्प्रदाय को आवश्यक और समीचीन नहीं माना गया है।

पश्चिमी दर्शन में दर्शन-शास्त्र की शाखाओं का विवेचन स्वतन्त्र होता रहा है, जैसे कि नीतिशास्त्र, तर्कशास्त्र और तत्त्व-दर्शन का विवेचन अरस्तू के समय से लेकर आज तक भिन्न-भिन्न धाराओं में होकर आया है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन की परम्परा में दर्शन की सभी शाखाओं का विवेचन एक साथ होता रहा है। पश्चिमी दर्शन विश्लेषणात्मक है और भारतीय दर्शन संश्लेषणात्मक। प्रथम स्वतन्त्र होकर चलता है, और दूसरा सबको साथ समेटकर चलता है। विश्लेषण पश्चिमी दर्शन का गुण माना जा सकता है, पर एकांगी हो जाना उसका अवगुण ही कहा जाएगा। पश्चिमी दर्शन की अनेक धाराएँ एकांगी हैं, जबकि भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा सर्वांगीण रही है। पश्चिमी दर्शन का एकांगीपन एक दृष्टि से और भी अवगुण है। वह केवल जागृत अवस्था का दर्शन है, जबकि भारतीय दर्शन जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति सभी अवस्थाओं का दर्शन है। भारतीय दर्शन सत्य के साक्षात्कार पर अधिक बल देता रहा है, जबकि पश्चिमी दर्शन सत्य के विवेचन पर ही आग्रह करता रहा है। भारतीय दार्शनिक द्रष्टा होता है, क्योंकि वह दर्शन से सत्य का साक्षात्कार करता है। पश्चिमी दार्शनिक समीक्षक एवं विवेचक होता है। सत्य का विवेचन करना और सत्य का साक्षात्कार करना इन दोनों में बड़ा अन्तर है।

पश्चिमी दर्शन और पूर्वी दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह भी है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि भारतीय दर्शन की धारा अविच्छिन्न रूप में प्रबाहित होती रही है, जबकि पश्चिमी दर्शन की धारा विच्छिन्न होती रही है। पश्चिमी दर्शन में जितने परवर्ती दार्शनिक होते हैं, वे अपने सभी पूर्ववर्ती दार्शनिकों का आलोचनात्मक अध्ययन करते हैं और किसी भी दार्शनिक के सभी मतों को सही नहीं मानते। भारतीय दर्शन में जितने परवर्ती दार्शनिक होते हैं, वे अपने सम्प्रदाय के पूर्ववर्ती आचार्यों के समस्त मतों को मानते हैं। इससे पश्चिमी दार्शनिक भारतीय दार्शनिकों की तुलना में अधिक शंका-शील रहे हैं। क्योंकि पश्चिमी दार्शनिक अपनी मौलिकता और नवीनता को जितना महत्त्व देते रहे हैं, उतना सत्य की स्थिरता को नहीं। विचारों का जितना क्रमबद्ध विकास भारतीय दर्शन में हुआ है, उतना पश्चिमी दर्शन में नहीं। क्योंकि वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारों में स्वतन्त्र रहा है, जबकि भारतीय दार्शनिक को अपनी परम्परा में रहकर विचार एवं चिन्तन करना पड़ता है।

पश्चिमी दर्शन और पूर्वी दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण भेद यह भी है कि पश्चिमी दर्शन विज्ञान से प्रभावित होता रहा है। विज्ञान की स्थापनाओं का वह समर्थन नहीं करता, बल्कि उनका प्रतिपादन भी करता है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन में विज्ञान का प्रवेश नहीं हो सका अथवा वह विज्ञानवाद की मान्यताओं से प्रभावित नहीं हो सका। भारतीय दर्शन की यह मान्यता रही है, कि विज्ञान एकांगी ज्ञान है, और दर्शन सर्वांगीण चिंतन है। दूसरी बात पश्चिमी दर्शन राजनीति का भी विवेचन करता है और वहाँ के दार्शनिक राजनीति में सक्रिय भाग लेते रहे हैं। किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने कभी यहाँ की राजनीति में न सक्रिय भाग लिया और न राजनीति का समर्थन ही किया। पश्चिमी दर्शन में गणित का भी समावेश हुआ है, जबकि भारतीय दर्शन में गणित के लिए जरा भी स्थान नहीं है। भारतीय दर्शन में जितना दर्शन एवं चिन्तन का महत्त्व माना गया है, उतना ही धर्म और आचार का भी। पश्चिमी दर्शन में विचार पर ही बल दिया गया है, आचार पर नहीं। यदि आचार पर विचार किया भी गया है, तो स्वतन्त्र रूप में किया गया है, जिसे नीतिशास्त्र कहा जाता है। पश्चिमी दर्शन में जितना ज्ञान एवं बुद्धि का विवेचन हुआ है, उतना तत्त्व का नहीं, जबकि भारनीय दर्शन में ज्ञान एवं तर्क, तत्त्व एवं पदार्थ का विवेचन समान भाव से किया जाता रहा है। इतना होने पर भी भारतीय दार्शनिकों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और पाश्चात्य दार्शनिकों में कुछ समानता भी उपलब्ध होती है। जैसे अरस्तू और न्याय-वैशेषिक में, ब्रेडले और नागार्जुन में, बर्कले और वसुबन्धु में, स्पीनोजा और शंकर में, हेगेल और रामानुज में। इस प्रकार कुछ समानता का आधार भी दोनों में अवश्य रहा है। इस समानता का अर्थ यह नहीं है कि पश्चिमी दार्शनिक भारतीय दर्शन की धाराओं से सर्वथा सहमत रहे हों, अथवा उसके अनुगामी रहे हों। बुद्धि का कार्य है, चिन्तन करना, और उस चिन्तन में कुछ सूत्र यदि एक जैसे उपलब्ध हों, तो इसका अर्थ अनुगामिता अथवा प्रभावित होना नहीं है। भारत में जो महत्त्व गंगा और यमुना का हो सकता है, वह योरुप में नहीं माना जाएगा। इसी प्रकार पश्चिमी जगत में टेम्स और हाईन नदी का हो सकता है उतना भारत में नहीं होगा। टेम्स और हाईन में, तथा गंगा और जमना में जितना भेद है, इतना भेद तो भारतीय दर्शन और पश्चिमी दर्शन में अवश्य ही रहेगा। क्योंकि दोनों की मूल प्रकृति और संस्कृति भिन्न भिन्न है। प्रत्येक देश की विचारधारा पर उसकी प्रकृति और संस्कृति का पूरा-पूरा प्रभाव पड़ता है।

दर्शन की उपयोगिता :

मानव जीवन में दर्शनशास्त्र का क्या उपयोग है ? यह एक प्रश्न है, जो आज से नहीं अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। उपयोगितावादी व्यक्ति की दृष्टि एकमात्र उपयोग में रहती है। परन्तु दर्शनशास्त्र और उपयोगितावाद दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं। फिर भी यह विचार तो उपस्थित होता ही रहा है और होता ही रहेगा कि दर्शन-शास्त्र का अध्ययन क्यों किया जाए ? और उसके करने से क्या लाभ हैं ? तथा नहीं करने से क्या हानि है ? एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है, कि दर्शन एवं अध्यात्म विद्या आकर्षक और आनन्द रूप है। प्लेटो कहा करता था, कि दर्शन का प्यारा आनन्द। उसे जितना आनन्द दर्शनशास्त्र के चिन्तन एवं मनन में आता था, उतना अन्य किसी विषय में नहीं। ब्राउनिंग कहता है कि जीवन का एक विशिष्ट अर्थ होता है और उस अर्थ की खोज ही मेरे लिए भोजन और जल के समान है। जीवन का वह विशिष्ट अर्थ दर्शन एवं चिन्तन ही है। ब्राउनिंग का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार शरीर को भोजन एवं जल की आवश्यकता है, उसी प्रकार आत्मा को चिन्तन की रोटी और मनन का जल चाहिए। दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में विभिन्न युग के विचारकों ने विभिन्न प्रकार से अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। फिर भी इतना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तो सत्य ही है कि दर्शनशास्त्र का जन्म तभी से हुआ है, जब से इस धरती पर मानव का जन्म हुआ। दर्शनशास्त्र उतना ही प्राचीन है, जितनी कि मानव जाति। एक कवि को अपने काव्य गुंफन में जो आनन्द आता है, और एक वैज्ञानिक को अपने अनुसन्धान में जो एकाग्रता एवं आनन्द आता है, उससे भी अधिक एकाग्रता एवं आनन्द एक दार्शनिक को अपने चिन्तन में आता है। पाश्चात्य दार्शनिक विलडयूरेन्ट कहता है, कि क्या ही अच्छा होता, कि हम अपनी आत्मा को देख सकते। हमारे लिए यह आवश्यक है, कि हम यह समझें, कि जीवन का एवं जगत का सही अर्थ क्या है? जीवन और जगत को समझने का प्रयत्न ही दर्शन-शास्त्र है। जीवन का जगत के साथ, और जगत का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है? यह समझना ही दर्शन की उपयोगिता है। भारतीय-दर्शन के अनुसार भी अपने को समझना ही जीवन की सफलता एवं सार्थकता है। अपने को समझना यही दर्शन-शास्त्र का उपयोगितावाद कहा जा सकता है। जीवन की सर्वांगीण व्याख्या दर्शन-शास्त्र ही कर सकता है। क्योंकि ज्ञान-साधना की अन्य समग्र शाखाएँ एकांगी हो जाती हैं। जबकि दर्शन-शास्त्र जीवन की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत करता है। थोरो का कहना है—"केवल गम्भीर एवं उच्च विचारों का पोषण अथवा किसी जटिल विचार-धारा से सम्बद्ध हो जाना ही दार्शनिकता नहीं है। दार्शनिकता का अर्थ है—ज्ञान एवं विद्या प्रेम। और जो कुछ समझा है, उस विवेक के साथ जीवन यापन करना।" वस्तुतः पवित्रतामय एवं आस्थामय जीवन व्यतीत करना ही वास्तविक दार्शनिकता है। बेकन का कहना था, कि हम सबसे पहले अपने मस्तिष्क को अच्छी वस्तुओं से पूर्ण कर लें, बाद में हमारी अन्य आवश्यकताएँ अपने आप ही पूर्ण हो जाएँगी, किंवा उनका अभाव हमें नहीं खलेगा। सत्य से हम समृद्ध नहीं बल्कि स्वतन्त्र होते हैं। बन्धनों से स्वतन्त्र होना ही दर्शन की उपयोगिता है। इससे बढ़कर दर्शन का अन्य कोई उपयोग नहीं हो सकता।

दर्शन की उत्पत्ति :

दर्शन की उत्पत्ति किस प्रकार होती है, और उस के मूल कारण क्या हैं? मानव मन का यह एक चिरकालीन एवं सनातन प्रश्न है? अपने युग के सभी दार्शनिकों ने अपने युग की परिस्थिति के अनुसार इसका समाधान किया है। फिर भी यह प्रश्न आज भी उतना ही ताजा है, जितना किसी युग में रहा होगा। भारतीय दार्शनिकों ने समाधान किया है, कि सत्य की जिज्ञासा और सत्य के साक्षात्कार की मानव मन में जो प्रबल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिज्ञासा है, उसी में से दर्शन-शास्त्र की उत्पत्ति होती है। मैं कौन हूँ ? और यह जगत क्या है ? यह जिज्ञासा ही दर्शन-शास्त्र को जन्म देती है। क्योंकि मनुष्य को अपने स्वरूप को जानने की एक प्रबल जिज्ञासा रहती है। जीवन और जगत के रहस्य को जानने की उस में एक प्रबल उत्कण्ठा है। उस जिज्ञासा एवं उत्कण्ठा को शान्त करने के लिए जब मनुष्य अपने अन्तर मन में चिन्तन-रूप प्रयत्न करता है, तब सहज ही दर्शन उसके जीवन में साकार हो उठता है। दर्शन की उत्पत्ति का मूल कारण मनुष्य के मन का चिन्तन और विचार ही है। परन्तु पाश्चात्य-दार्शनिक दर्शन की उत्पत्ति के चार कारण प्रस्तुत करते हैं—विस्मय, संशय, नवीन वस्तु जानने की इच्छा, और असन्तोष। उनके दर्शन का समस्त चिन्तन इसी आधार पर हुआ है। और इसी परिधि में वे अपना चिन्तन करते रहे हैं।

विस्मय की भावना :

यूनान के महान दार्शनिक प्लेटो ने कहा है—"Wonder is the parent of Philosophy" विस्मय की भावना ही दर्शन की जननी है। मनुष्य जब इस अनन्त नील-गगन की विशालता को, और धरती की असीमता को देखता है, तब उसके मन में विस्मय उत्पन्न हो जाता है। धरती में से फूट निकलने वाले रंग-बिरंगे फूलों के पौधे, छायादार और फलदार वृक्षों की पंक्ति, कल-कल करती बहती सरिताएँ, और रात्रि के अन्धकार में चमकते-दमकते तारे तथा मेघों से आवृत्त अनन्त आकाश उस के मन में विस्मय उत्पन्न करते हैं। जब मनुष्य देखता है, कि उदयाचल पर भास्कर अपने अनन्त प्रकाश से भू-मण्डल को भर रहा है, और जब मानव देखता है, कि अस्ताचल पर स्थित सूर्य अब अपने प्रकाश को समेट कर धीरे-धीरे विलुप्त हो रहा है, तब मनुष्य के मन में विस्मय की भावना भर जाती है। लहराता विशाल सागर जब तरंगों के तूफान से उद्वेलित हो जाता है, तब मनुष्य के मन में सहसा यह भाव उठता है, कि यह सब क्या है ? और क्यों है ? इस प्रकार विस्मय की भावना उसे विचारशील बनाकर दर्शन का मार्ग प्रशस्त करती है।

संशय की भावना :

जब मनुष्य जीवन और जगत की वस्तुओं को अपने सामने प्रत्यक्ष देखता है, तब उस के मन में यह संशय उठ खड़ा होता है, कि यह सब सत्य है अथवा भ्रम है ? वह सूर्य को एक लघु अग्नि-गोलक के समान पृथ्वी का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिभ्रमण करते हुए देखता है। पर सूर्य न तो छोटा है, और न वह पृथ्वी का परिभ्रमण ही करता है। पानी में डूबी हुई छड़ी पानी की सतह के पास टेढ़ी दीख पड़ती है, जबकि वह वास्तव में सीधी होती है। सिनेमा के पर्दे पर चित्र यथार्थ और सजीव प्रतीत होते हैं, और इसी प्रकार स्वप्न में हम जो कुछ देखते हैं, उसकी यथार्थता में हमें जरा भी सन्देह नहीं होता, किन्तु जागते ही पता लगता है, कि वह सब कुछ मिथ्या था। अतः मनुष्य कभी-कभी अपने समग्र अनुभवों के विषय में शंका एवं संशय करते हुए पूछने लगता है—मैं जो कुछ देख रहा हूँ, वह वास्तव में है, अथवा नहीं ? स्वप्न के अनुभवों के समान जागृत के अनुभव भी यथार्थ होते हुए मिथ्या नहीं है, इसका क्या प्रमाण है ? संशय की यही भावना दर्शन-शास्त्र को जन्म देती है।[1]

नवीन वस्तु जानने की इच्छा :

कुछ दार्शनिकों का कहना है, कि केवल ज्ञान प्राप्त करने की स्वाभाविक इच्छा ही दर्शन-शास्त्र की उत्पत्ति का एकमात्र कारण है। अंग्रेजी भाषा में दर्शन शब्द का अर्थ होता है—Philosophy उनके इस कथन की पुष्टि इस अर्थ में होती है—क्योंकि Philos का अर्थ है—प्रीति अथवा अनुराग, और Sophia शब्द का अर्थ है ज्ञान। इन दोनों यूनानी शब्दों से Philosophy शब्द की उत्पत्ति हुई है। इसलिए इसका अर्थ है—ज्ञान की प्रीति अथवा विद्या का प्रेम। अतः ज्ञान एवं विद्या प्राप्त करने की तीव्र इच्छा दर्शन-शास्त्र को जन्म देती है। क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही ज्ञान का प्रेमी है, अतः नवीन वस्तु का ज्ञान करना उसको सहज प्रवृत्ति है। ब्राउनिंग ने कहा है—

"A spark disturbs our clod,
Nearer we hold of god"

ज्ञान की चिनगारी मनुष्य के अन्दर निरन्तर सुलगती रहती है, और इसीलिए वह अन्य प्राणियों से भिन्न और ईश्वर के अधिक निकट है। इस प्रकार किसी भी नूतन वस्तु के जानने की सहज वृत्ति में से ही दर्शन-शास्त्र का जन्म पाश्चात्य-दार्शनिकों ने स्वीकार किया है।

असन्तोष की भावना :

कुछ पाश्चात्य-दार्शनिकों की यह मान्यता है, कि विस्मय की

---

१ पाश्चात्य-दर्शन-दर्पण, पृष्ठ २

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भावना, संशय की भावना और ज्ञान प्राप्ति की इच्छा दर्शन की उत्पत्ति के अव्यावहारिक कारण हैं। इन विद्वानों के मत में दर्शन की उत्पत्ति का व्यावहारिक कारण यह हो सकता है, और वह है—मनुष्य के भीतर अपने जीवन के प्रति असन्तोष की भावना। मनुष्य का जीवन जरा, मरण और व्याधि से दुःखमय है। आशा और तृष्णा उसके मानस को सदा अशान्त रखती है। जीवन सदा अशान्त क्यों रहता है? इस असन्तोष को समझना ही दर्शन की उत्पत्ति का मूल कारण माना जा सकता है। वर्तमान जीवन उसे असन्तोषपूर्ण प्रतीत होता है, अतः वह किसी सन्तोषमय, सुखमय एवं आनन्दमय जीवन की खोज करने के लिए आतुर हो जाता है। इस आतुरता में से ही दर्शन-शास्त्र का आविर्भाव होता है। जब मनुष्य विश्व और अपने जीवन के सम्बन्ध में विचार करने के लिए बाध्य होता है, कि मेरा स्वरूप क्या है, और इस दृश्यमान जगत का स्वरूप क्या है? क्या वर्तमान जीवन ही सब कुछ है, और इससे परे कुछ भी नहीं है? इस प्रकार के असन्तोष में से ही उसे जिस सत्य एवं तथ्य की उपलब्धि होती है, वही वस्तुतः दर्शन-शास्त्र है। इस प्रकार संसार के प्रति असन्तोष की भावना दार्शनिक विचारों को उत्पन्न करती है। भारतीय-दर्शन में भी इस विचार को स्थान मिला है। परन्तु उसकी मूल धारणा सत्य की जिज्ञासा ही है।[1]

इस प्रकार दर्शन की उत्पत्ति के चार कारणों पर दार्शनिकों ने विचार किया है। परन्तु पाश्चात्य दार्शनिकों में मुख्य रूप से संशय की भावना को ही दर्शन की उत्पत्ति का मूल कारण माना है। पाश्चात्य विचारकों में शंका का एवं संशय का स्थान इतना व्यापक है, जितना पहले कभी नहीं था। आज का मनुष्य ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में ही शंका नहीं करता, बल्कि उन सामान्य मान्यताओं के सम्बन्ध में भी शंका करने लगा है, जो विज्ञान का ठोस आधार मानी जाती हैं, और जिनके सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के मन में शंका करने का कभी प्रश्न ही नहीं उठता था। जड़-तत्त्व (Matter), देश (Space), काल (Time) और कार्य-कारण का नियम (Causation) विज्ञान के मूल आधार माने जाते थे। परन्तु आज कल के वैज्ञानिक स्वयं इनकी सत्यता में सन्देह करने लगे हैं। उनका कथन है, कि यह वस्तुतः सत्य नहीं है, क्योंकि इनका आधार केवल हमारा अनुभव ही है। विज्ञान को एक अभूतपूर्व क्रान्ति का सामना करना पड़ रहा

---

१ पाश्चात्य-दर्शन-दर्पण, पृष्ठ ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है, जिसके परिणामस्वरूप वैज्ञानिक गम्भीरतापूर्वक विश्व के मूल स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने लगे हैं। पाश्चात्य जगत का महान दार्शनिक पेट्रिक (Patrick) का कथन है—"Although Philosephy among the ancients began in wonder, in modern times it usually begins in doubt" यद्यपि प्राचीन दर्शन का प्रारम्भ विस्मय की भावना में होता था, तथापि आधुनिक दर्शन का प्रारम्भ शंका की भावना में होता है। इस प्रकार पाश्चात्य विचारकों में दर्शन की उत्पत्ति को लेकर अनेक प्रकार के विचार हैं। पर सब में मुख्य संशय की भावना ही है।

भारतीय दार्शनिक फिर वे किसी भी परम्परा के रहे हों, दर्शन का मूल आधार वे सत्य की जिज्ञासा और तत्त्व जानने की प्रबल भावना को ही मानते हैं। सत्य का साक्षात्कार करना ही यहाँ एकमात्र दर्शन का प्रयोजन माना गया है। भारतीय दर्शन में दर्शन की उत्पत्ति का दूसरा कारण दुःख-निवृत्ति भी माना गया है। वर्तमान जीवन दुःख पूर्ण एवं क्लेशमय है। दुःख एवं क्लेश से निवृत्त होना ही यहाँ जीवन का प्रयोजन माना गया है। भारत की वैराग्यवादी विचारधारा अथवा संन्यासवादी विचारधारा में मुख्य रूप से दुःख-निवृत्ति को ही दर्शन का उद्देश्य एवं ध्येय माना गया है। किन्तु उसके मूल में सत्य का साक्षात्कार ही रहा हुआ है। भारतीय दार्शनिकों ने संशय को अथवा शंका को दर्शन की उत्पत्ति का मूल कारण नहीं माना, क्योंकि यहाँ की प्रत्येक दार्शनिक परम्परा अपने द्वारा स्वीकृत तत्त्व में आस्था एवं श्रद्धा रखती है। संशय एवं शंका को वह एक प्रकार का दूषण ही मानती है। जबकि पाश्चात्य-विचारक उसे एक भूषण के रूप में स्वीकार करते हैं।

दर्शन की परिभाषा :

दर्शन-शास्त्र की परिभाषा क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में पाश्चात्य विद्वानों का कहना है, कि जीवन की आलोचना (Critisim of Life) ही वस्तुतः दर्शन-शास्त्र का परिभाषा है। यहाँ पर पश्चिमी विद्वानों ने दर्शन के सम्बन्ध में, उसकी व्याख्या एवं परिभाषा के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे इस प्रकार से हैं—

१. दर्शन का विषय सम्पूर्ण विश्व है।

२. दर्शन का सम्बन्ध विश्व की साधारण समस्याओं से नहीं, बल्कि उसकी मूल और सामान्य समस्याओं से है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. दार्शनिक इन समस्याओं पर चलते-फिरते विचार नहीं करता, बल्कि दृढ़तापूर्वक कटिबद्ध होकर अन्त तक विचार करता है।

४. दार्शनिक विचार की विधि पूर्ण रूप से निष्पक्ष और तर्क-संगत है, इसलिए दर्शन किसी प्रकार की मान्यताओं को लेकर सत्य-शोधन के मार्ग पर अग्रसर नहीं होता। विज्ञानों को साधारण मान्यताओं की भी दर्शन आलोचना करता है।

५. दर्शन विज्ञान की भाँति विश्व को अनेक भागों में बाँटकर उनका अलग-अलग अनुशीलन नहीं करता। दर्शन विश्व को अपनी सम्पूर्णता में समझने की चेष्टा करता है। अतः दार्शनिक दृष्टि-कोण समन्वयात्मक है, और विज्ञानों का समीकरण उसका एक मुख्य कार्य हैं।

६. दर्शन को विश्व की मूल समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों का उत्तर न समझना चाहिए, बल्कि उन समस्याओं पर विचार करने की तर्क-संगत विधि और उन्हें हल करने का दृढ़ प्रयास है।

इन निर्णयों के आधार पर दर्शन की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—"दर्शन मनुष्य जीवन और विश्व की मूल समस्याओं पर तर्क-मूलक विचार और तत्सम्बन्धी ज्ञान राशि के समीकरण द्वारा सम्पूर्ण सत्य का यथार्थ ज्ञान-लाभ करने का प्रयत्न है।[1] भारतीय दर्शन में दर्शन का अर्थ है—दृष्टि। जो दृष्टि सत्य को ग्रहण करती है, अथवा सत्य का साक्षात्कार करती है, उसे दर्शन कहा जाता है। दर्शन का विषय समग्र विश्व, समस्त चेतना और समस्त पदार्थ होते हैं। दर्शन की परिधि में सभी कुछ समाहित किया जा सकता है।

दर्शन का प्रभाव :

मानव जीवन पर दर्शन का प्रभाव कैसा पड़ता है ? यह भी एक प्रश्न है ? जिसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं। जब हम दर्शन को जीवन की आलोचना स्वीकार कर लेते हैं, तब यह आवश्यक हो जाता है, कि उसका प्रभाव मनुष्य जीवन पर अवश्य पड़ता है। इस जगती तल पर शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो, जिसका जीवन दर्शन से प्रभावित न हो। यदि विचार को मनुष्य जीवन की विशेषता स्वीकार किया जाता है, तो यह मान लेने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती,

---

१ पाश्चात्य-दर्शन-दर्पण, पृष्ठ १६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि प्रत्येक मनुष्य अपने आप में दार्शनिक होता है। दर्शन का सम्बन्ध स्कूल और कॉलेज की शिक्षा से नहीं है, इसका सम्बन्ध है—हित एवं अहित की विवेचना से। जो व्यक्ति शुभत्व एवं अशुभत्व के सम्बन्ध में जितना अधिक स्पष्ट विचार कर सकता है, वह उतना ही बड़ा दार्शनिक माना जाता है। इससे स्पष्ट है, कि मानव जीवन के हर पहलू पर दर्शन का प्रभाव पड़ता है। दर्शन की महत्ता के सम्बन्ध में भारतीय और पाश्चात्य-दर्शनों ने काफी लिखा है।

हमारे व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त हमारे सामाजिक जीवन और राष्ट्रीय जीवन पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। क्योंकि प्रत्येक सामाजिक विप्लव, विद्रोह अथवा राजनैतिक क्रान्ति के पीछे कुछ प्रभावशाली दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि रहती है। ईस्वी सन् १७८९ के फ्रांसीसी विप्लव के पीछे दार्शनिक रूसो के क्रान्तिकारी विचारों की शक्ति थी। भारतीय राजनैतिक क्रान्ति में अथवा स्वतन्त्रता संग्राम में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के दार्शनिक विचारों की शक्ति थी। क्योंकि उनका अहिंसात्मक आन्दोलन आज के युग का एक नया दर्शन था, जिसके पीछे उनका वर्षों का चिन्तन और मनन था। इसी प्रकार समाजवाद और साम्यवाद के दर्शन के पीछे भी दार्शनिक व्यक्तियों के चिन्तन का बल है। रूसी क्रान्ति इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। इस प्रकार दर्शन का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र पर प्रभाव पड़ता है। क्योंकि किसी देश की संस्कृति उसके दार्शनिक विचारों की प्रतिच्छाया होती है। प्रत्येक दर्शन के पीछे उस देश के दार्शनिकों के चिन्तन एवं मनन का प्रबल बल होता है।

दर्शन की व्यापकता :

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में दर्शन सबसे अधिक व्यापक है। क्योंकि अन्य जितने भी सिद्धान्त अथवा वाद होते हैं, उन सबका मूल दर्शन में ही उपलब्ध होता है। किसी भी देश की संस्कृति और इतिहास की परीक्षा उसके दर्शन से ही की जा सकती है। यही कारण है, कि युग-युग से समाज का प्रबुद्ध वर्ग दर्शन-शास्त्र की विकास परम्परा में महत्वपूर्ण योग प्रदान करता आया है। किसी भी जाति की संस्कृति के मुख्य अंग चार माने जाते हैं—तत्त्व-ज्ञान, नीति, कला और विज्ञान। प्रत्येक जाति ही नहीं, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में भी इन चार अंगों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। मानव-जाति के विकास के ये चार आधार-स्तम्भ माने जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इनके अभाव में मनुज और पशु में कुछ भी अन्तर नहीं रहेगा। विज्ञान और तत्त्व-ज्ञान का उद्देश्य सत्य को जानना है। कला का उद्देश्य सौन्दर्य को उत्पन्न करना और उसका रस लेना है। नीति का उद्देश्य मनुष्य के आचरण को व्यवस्थित करना है। धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के समग्र जीवन से है। धर्म किसी पक्ष की ओर से उदासीन नहीं हो सकता। धर्म को कोई नीति में परिगणित करता है, और कोई भक्ति में करता है, तथा कोई इसे ज्ञान से सम्बन्धित मानता है। भारतीय-दर्शन के अनुसार धर्म में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का समन्वय है। इस प्रकार दर्शन की परिधि में मानव जीवन में उपयोगी सभी सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। यही कारण है, कि दर्शन की व्यापकता सभी क्षेत्रों में स्वीकार की गई है।

पाश्चात्य विचारक भी दर्शन की व्यापकता की परिभाषा अथवा व्याख्या इस प्रकार से करते हैं। भले ही भारतीय-दर्शन और पाश्चात्य-दर्शन में भौगोलिक, कालिक और राजनैतिक विभेद रहे हैं। परन्तु जीवन की व्याख्या के सम्बन्ध में मानव-जाति में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रह सकता। क्या यूनान, यूरोप और अमेरिका के जीवन को ज्ञान, कर्म और भक्ति की आवश्यकता नहीं है? निश्चय ही, इन तीनों की आवश्यकता से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। अतः दर्शन की व्यापकता मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वीकृत होती रही है।

दर्शन की विचार-प्रक्रिया :

जो व्यक्ति विचार करता है अथवा किसी तत्त्व का चिन्तन करता है, उसे दार्शनिक कहा जाता है। दर्शन की विचार-प्रक्रिया (The method of philosophy) अन्य विद्याओं के क्षेत्रों से भिन्न है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य वास्तव में दार्शनिक है, साधारण व्यक्ति दार्शनिक केवल इस अर्थ में है, कि वह दार्शनिक विषयों पर कुछ न कुछ विचार करता है और उनके सम्बन्ध में अपना मत रखता है। पर साधारण मनुष्य के विचार न तो दार्शनिक विषयों की गहराई में जाते हैं, और न नियमबद्ध और युक्तियुक्त होते हैं। सत्य तो यह है, कि इस प्रकार के विचार अस्पष्ट, अन्ध-विश्वासपूर्ण एवं पक्षपात से दूषित होते हैं। उसे दर्शन की संज्ञा न देकर अधिक से अधिक साधारण मनुष्य का दर्शन अथवा साधारण बुद्धिवाला दर्शन (philosophy common-sense) कहा जा सकता है।[1]

---

१ पाश्चात्य दर्शन दर्पण, पृ. ८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य विचार के विपरीत दार्शनिक विचार तर्क-संगत और व्यवस्थित होते हैं। पक्षपात, परम्परागत धारणाओं और व्यक्तिगत संस्कारों से दूषित नहीं होते। दार्शनिक व्यक्ति अपने विचार क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होता है। वह समाज और शासन अथवा इस प्रकार के व्यक्तियों की, जिनके ऊपर समाज की पूरी श्रद्धा होती है, और जिनके वाक्य समाज के लिए ब्रह्मवाक्य समान होते हैं, चिन्तन नहीं करता। इस प्रकार के चिन्तन के लिए शुद्ध और सात्त्विक बुद्धि से अधिक पवित्र अन्य वस्तु नहीं हो सकती। अतः वह सभी प्रकार के सिद्धान्तों को, फिर भले ही वे लोकप्रिय और सर्वमान्य क्यों न हों, बुद्धि की कसौटी पर कसकर परखता है और फिर उन्हें स्वीकार करता है। इसका विचार सामान्य मनुष्य के विचार की भाँति अस्पष्ट और अन्धविश्वासपूर्ण नहीं होता। वह अपने विषय की गहराई में जाता है और उसके यथार्थ तथा अन्तिम स्वरूप को जानने का प्रयास करता है। चिन्तन की इतनी लम्बी एवं गहरी शक्ति होने पर भी व्यक्ति दार्शनिक बन सकता है और दर्शन के क्षेत्र में कुछ प्रदान कर सकता है। इस सम्बन्ध में पैट्रिक ने लिखा है—It is the art of thinking things though और विल्यम जेम्स ने कहा है—It is an unusually persistent effort to think clearly. इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों ने चिन्तन करने की पद्धति के सम्बन्ध में और चिन्तक व्यक्ति के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है। दार्शनिक अपने विचारों में अनेक प्रकार की विधियों का प्रयोग करते हैं, उनमें से मुख्य दो हैं—आगमन (induction), और निगमन (deduction)।

आगमन की विधि के अनुसार हम अनुभव द्वारा एक जाति के बहुत से विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। और फिर उनमें व्याप्त नियम और सिद्धान्त को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न करते हैं। जैसे दुःख का कारण जानने के लिए हम कुछ दुःखी व्यक्तियों का निरीक्षण और अध्ययन करते हैं और आवश्यक जांच-पड़ताल करने के बाद यह मालूम करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में जो दुःख है, किसी न किसी विषय का अभाव है, जिसमें उसकी आसक्ति है, इस आधार पर हम यह सिद्धान्त स्थिर करते हैं, कि विषयासक्ति दुःख का कारण है।[1] आगमन की विधि में निरीक्षण के अतिरिक्त प्रयोग का भी आधार लिया जाता है। यह विचार करना भूल होगी कि प्रयोग मनोवैज्ञा-

---

१ पाश्चात्य-दर्शन दर्पण, पृ. ९-१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निकों की प्रयोगशाला में ही किया जा सकता है। विचार के क्षेत्र में भी हम प्रयोग कर सकते हैं। यदि हम साधारणतया किसी विचार, सिद्धान्त अथवा मत को सिद्ध नहीं कर सकते तो हम विचार क्षेत्र में उसे फिर प्रयोग करते हैं। प्रयोग का अर्थ है कि हम उस सिद्धान्त को मान कर चलते हैं, और उससे जितने अनुमान निकाले जा सकते हैं, उन्हें निकाल कर देखते हैं कि वे दूसरे सिद्धान्तों से, जिन्हें हम सिद्ध कर चुके हैं, अथवा इस प्रकार के तथ्यों से जिनके बारे में सन्देह नहीं किया जा सकता, मेल खाते हैं अथवा नहीं। उदाहरण के रूप से आगे चलकर अनुभववाद (Empiricism) प्रसंग में देखेंगे कि यह एक दार्शनिक प्रयोग था, जो इस सिद्धान्त को मानकर किया था, कि ज्ञान का एकमात्र साधन अनुभव है। इस सिद्धान्त के आधार पर दर्शन के इतिहास में लाक (Locke) और बर्कले (Berkeley) ने दर्शन शास्त्र की एक ऊँची इमारत खड़ी की थी। प्रसिद्ध अनुभववादी ह्यूम (Hume) ने देखा कि इस इमारत की ईंटें तो अवश्य अनुभव की बनी हैं, पर उनकी चिनाई एवं जुड़ाई मुख्य-मुख्य स्थानों पर बुद्धि के मसाले से हो रही है। उसने जब बुद्धि की सहायता के बिना ही नए सिरे से इस इमारत को खड़ा करना चाहा, तो वह इसे भूमि से एक इंच भी ऊपर न उठा सका। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उसे सन्देहवाद (Scepticism) की शरण लेनी पड़ी और यह घोषणा करनी पड़ी कि विश्व का निश्चयात्मक ज्ञान सम्भव नहीं है। दार्शनिकों को इस प्रयोग से बड़ा लाभ हुआ। उन्होंने यह जान लिया कि केवल अनुभव के द्वारा विश्व का यथार्थ और निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

निगमन की विधि आगमन के ठीक विपरीत है। आगमन में हम अनुभव द्वारा ज्ञात हुए व्यक्तिगत तथ्यों के आधार पर एक सामान्य सिद्धांत को सिद्ध करते हैं, जबकि निगमन में ज्ञात हुए अथवा माने हुए सामान्य सिद्धान्त के आधार पर किसी व्यक्तिगत अथवा कम सामान्य तथ्य को सिद्ध करते हैं। जैसे यदि हम यह सिद्धान्त मान लें, कि जिस वस्तु का हमें अनुभव नहीं है, उसका अस्तित्व भी नहीं है। तो इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि ईश्वर का हमें अनुभव नहीं है। अतः ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। दार्शनिक विचार पद्धति में आगमन और निगमन दोनों ही प्रकार का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त विचार की दो अन्य पद्धति भी हैं—विश्लेषण (analysis) और संश्लेषण (synthesis)। इन दोनों पद्धतियों से भी दार्शनिक अपने विचारों का विश्लेषण करके किसी तथ्य पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दार्शनिक किसी समस्या पर विचार करते समय विश्लेषण और संश्लेषण में दोनों का प्रयोग करते हैं। विश्लेषण की विधि में वह उस समस्या के विभाग कर लेता है, और फिर प्रत्येक विभाग पर अलग-अलग विचार करता है, जिससे कि वह उस समस्या की गहराई तक पहुँच सके, और उससे सम्बन्धित जितने प्रयत्न हैं, सबका भली प्रकार खुलासा हो जाएँ। संश्लेषण की विधि में समस्या के अंशों के बारे में उसने जो अलग-अलग ज्ञान प्राप्त किया है, उसका समन्वय करके पूर्ण समस्या का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करता है। अंश और अंशी कभी एक दूसरे से अलग नहीं होते। अतः अंश का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अंशी को समझना पड़ता है, और अंशी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके अंशों को समझना पड़ता है। जैसे साइकिल के पहिये का हमें ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता, यदि उसकी तीलियों का ज्ञान न हो और तीलियों के स्वभाव और उनकी उपयोगिता का ज्ञान नहीं हो सकता, यदि पहिये का ज्ञान न हो। इस प्रकार दार्शनिक लोग विश्लेषण और संश्लेषण विधि के द्वारा वस्तु तत्त्व का ठीक ठीक अन्वेषण करते हैं।

दर्शन और व्यवहार :

दर्शन के सम्बन्ध में जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न होता है, वह यह है कि दर्शन व्यवहार की वस्तु है अथवा आदर्श की वस्तु है। आदर्श उसे कहा जाता है, जो हमारी कल्पना में तो हो, परन्तु वह कल्पना जीवन में कभी साकार न हो सके। इस प्रकार के सिद्धान्त को अथवा विकार को आदर्शवाद कहा जाता है। इसके विपरीत व्यवहारवाद का अर्थ होता है, कि वह सिद्धान्त, जिसे मनुष्य अपने जीवन के धरातल पर उतार सकता है, इस प्रकार आदर्श और व्यवहार की व्याख्या भारतीय दर्शनों में कम परन्तु पाश्चात्य दर्शनों में अधिक होती है। भारतीय दार्शनिकों का अपना ही विश्वास रहा है, कि हमारे दर्शन में कोई इस प्रकार का विचार नहीं है, जिसे हम अपने जीवन में न उतार सकें। मात्र कल्पना अथवा मात्र विचार यहाँ दर्शन का आधार कभी नहीं बन सका। इसके विपरीत योरुप के दर्शन में अनेक विचारधाराएँ इस प्रकार की हैं, जो केवल बुद्धि पर ही भार देती है, और केवल कल्पना लोक में विचरण करती हैं। जिनका आधार हमारा मानसिक जाल हो सकता है, व्यावहारिक जीवन नहीं। मेरे विचार में दर्शन में आदर्श और व्यवहार दोनों का समन्वय होना चाहिये। दर्शन के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे दर्शन की उपयोगिता स्वतः सिद्ध हो जाती है। परन्तु दर्शन के सम्बन्ध में सामान्यजनों में अनेक प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के भ्रान्तिपूर्ण विचार भी प्रचलित हैं, जिनके कारण कुछ अनभिज्ञ लोगों को इसकी प्रयोजन-शीलता के सम्बन्ध में सन्देह हो जाता हो, यह स्वाभाविक है। क्योंकि कुछ लोगों की धारणा है, कि दर्शन एक कल्पना अथवा मानसिक कलाबाजी मात्र है। जीवन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। इसके द्वारा हमारे व्यावहारिक जीवन की कोई समस्या का समाधान नहीं मिलता। इसका स्पष्ट अर्थ है—न इससे उदर पूर्ति होती है, और न जेब पूर्ति। यह धारणा उन लोगों की है, जिनका दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण रहा है। इनके विचार में खाना-कमाना ही जीवन का सार है। दर्शन खाने-कमाने की समस्या का समाधान अवश्य नहीं करता, और इसलिए इनकी समझ में दर्शन का कुछ भी प्रयोजन नहीं हो सकता। अथवा हमारे व्यवहार में उसका कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता। परन्तु रोजी और रोटी ही इन्सानी जिन्दगी का मकसद नहीं है। और न रोजी एवं रोटी से मनुष्य के आन्तरिक जीवन की परिपुष्टि ही होती है। मनुष्य स्वभावतः ही अपने वर्तमान जीवन से असन्तुष्ट रहता है। क्योंकि वह जो कुछ है और जितना है उससे अधिक होना चाहता है। अतः वह उन आदर्शों की खोज करता है और उसका जीवन उन आदर्शों को प्राप्त करने का प्रयास करता है, जिनके द्वारा वह अपने जीवन को अधिक उच्च बना सके। वास्तव में दर्शन शास्त्र आदर्शों की खोज में मनुष्य की सहायता करता है। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—Philosophy looks not only at what man is at presenttime at what he may in the future, Philosophy is the criticism of life. दर्शनशास्त्र यह नहीं देखता, कि मनुष्य का वर्तमान कालिक रूप क्या है, बल्कि वह यह कहता है, कि मनुष्य को भविष्य में कैसा बनना है। क्योंकि दर्शन का अर्थ जीवन की समालोचना है। जब कि दर्शन जीवन की समालोचना है, तब निश्चय ही दर्शन का उपयोग एवं प्रयोग जीवन के लिए ही किया गया है। यही दर्शन शास्त्र का व्यवहारवाद है। इसके विपरीत आदर्शवाद की मान्यता यह है, कि आदर्श जितने ऊँचे होते हैं, उतने ही सूक्ष्म और वर्तमान जीवन से दूर होते हैं। अतः सामान्य मनुष्यों को दर्शन भी मनुष्य के व्यावहारिक जीवन से दूर उसकी अद्भुत कल्पना मात्र प्रतीत होता है। साधारण मनुष्य सामान्य सांसारिक सुख-भोग को ही प्रयोजन मानकर जब दर्शन शास्त्र और उसके ऊँचे आदर्शों को अर्थहीन बतलाया है, तब वह अपने मन के समर्थन में कुछ तर्क भी प्रस्तुत किया करता है। यदि वह अपने विचार में कोई तर्क प्रस्तुत नहीं कर सकता, तब निश्चय ही दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र के क्षेत्र में उसका मूल्य नहीं होगा। यदि वह अपने मत के समर्थन में तर्क प्रस्तुत करता है और अपनी बात को युक्तियुक्त सिद्ध करने की क्षमता रखता है, तब निश्चय ही वह उसके विचार का अच्छा परिणाम है और इस अर्थ में वह एक प्रकार से दर्शन शास्त्र की ही अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार आदर्श और व्यवहार को लेकर पाश्चात्य दर्शन के क्षेत्र में अनेक प्रकार के विवाद समय-समय पर प्रस्तुत हुए हैं, और परस्पर उनमें खण्डन और मण्डन की पद्धति भी प्रचलित रही है। इस विषमता को दूर करने का एक ही उपाय हो सकता है, और वह यह है, कि दोनों में समन्वय स्थापित हो।[1]

तत्त्व और दर्शन :

क्या तत्त्व और दर्शन का एक ही अर्थ है ? अथवा भिन्न-भिन्न अर्थ है ? सामान्य लोग भले ही तत्त्व और दर्शन का एक अर्थ समझें, परन्तु विचारक व्यक्ति के लिए कभी उनका एक अर्थ नहीं हो सकता। फिर भी इतना तो सत्य ही है कि जहां दर्शन होता है, वहाँ तत्त्व की उपस्थिति होती ही है। और जहाँ तत्त्व होगा, वहाँ दर्शन भी अवश्य ही रहेगा। पाश्चात्य दर्शन में दर्शन शास्त्र के लिए (Philosophy) शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु वास्तव में (Philosophy) और दर्शन में भी बड़ा अन्तर है। फिलोसोफी का अर्थ होता है, विद्या का अनुराग। परन्तु दर्शन शब्द का अर्थ होता है, सत्य का साक्षात्कार। अतः दर्शन-शास्त्र इतना व्यापक है कि उसकी परिधि में सभी प्रकार के सत्य, सभी देशों के सत्य और सभी कालों के सत्य समाहित हो जाते हैं। तत्त्व शब्द का अर्थ वस्तु का मूल स्वरूप होता है। एक कवि ने तत्त्व पद का संक्षेप में अर्थ-निर्देश करते हुए कहा है—तत्त्वं ब्रह्मणि याथार्थ्ये। तत्त्व का अर्थ ब्रह्म और वस्तु का यथार्थ रूप होता है। तत्त्व शब्द अनेक स्थानों में और भिन्न-भिन्न प्रसंगों पर विविध अर्थों में प्रयुक्त देखा जाता है। परन्तु उक्त दोनों अर्थों में इन नए अर्थों की छाया का संग्रह हो जाता है। यहाँ ब्रह्म का अर्थ मूल कारण लें और यथार्थता का भाव किसी भी वस्तु या घटना की यथावत् स्थिति-मूल के साथ संवाद स्थिति लें तो फिर शेष दूसरे अर्थों का भाव समझना सत्य हो जाएगा। तत्त्व अर्थ के मूल कारण एवं यथार्थता इस प्रकार जो दो अर्थ फलित हुए हैं, वे मानवी जिज्ञासा का सुझाव, गति

---

१ पाश्चात्य दर्शन दर्पण, पृ. ११

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं वृत्ति सूचित करते हैं। मानव बुद्धि के विकास का जो इतिहास उसकी कृतियों पर से फलित होता है, वह एक तत्त्व-विद्या शब्द से ही सूचित होता है। इस विकास का प्रथम सोपान है—अविद्या अथवा अज्ञान का किसी भी प्रकार से सामना करना, उसे दूर करना। द्वितीय सोपान है—अज्ञान का निवारण करके मात्र ज्ञान प्राप्त करना। इतना ही नहीं बल्कि इसका भी निश्चय करना कि प्राप्त ज्ञान में किसी प्रकार का संशय और भ्रम तो नहीं है। तृतीय सोपान है, उसके कारण की गवेषणा करना और वह गवेषणा भी अन्तिम कारण पर्यन्त करते रहना। क्योंकि तत्त्व का ज्ञान केवल उपरी सतह की बातों से नहीं हो सकता[1]।

अब दर्शन शास्त्र के सम्बन्ध में विचार कर लेना उचित होगा। तत्त्व विद्या मूल रूप से अध्यात्म विद्या है। इसमें अधिभूत अधिदैव विषय आते हैं अवश्य, परन्तु अन्ततः उनका निरूपण अध्यात्म विद्या में ही पर्यवसित होता है। अतः तत्त्व विद्या, अध्यात्म-विद्या अथवा परविद्या को दर्शन कहा जाता है। भारतीय भाषाओं में दर्शन, दार्शनिक साहित्य और दार्शनिक विद्वान जैसे शब्द प्रचलित हैं। इस सबका सीधा सम्बन्ध अध्यात्म विद्या के साथ है। यहाँ यह प्रश्न होता है, कि दर्शन शब्द का प्रचलित अर्थ सिद्ध होता है—चक्षुर्जन्य ज्ञान। क्योंकि चक्षुष् ज्ञान के बोधक दृष्टा शब्द पर से यह शब्द निष्पन्न हुआ है। फिर भी उसका यह सामान्य अर्थ ग्रहण न करके उक्त विशेष अर्थ ही ग्रहण किया जाता है। क्योंकि व्यावहारिक और स्थूल जीवन में दर्शन सत्य के समीप अधिक से अधिक होने से वही दर्शन शब्द अध्यात्म ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिन ऋषि, मुनि, कवि और योगियों ने आत्मा-परमात्मा जैसी अनिन्द्रिय वस्तुओं का साक्षात्कार किया हो, उन्हें द्रष्टा कहा जाता है। क्यों कि आध्यात्मिक पदार्थों का उनका साक्षात् आकलन सत्य स्पर्शी होने से दर्शन कहा जाता है। इस प्रकार अध्यात्म विद्या के अर्थ में प्रचलित दर्शन शब्द का फलितार्थ यह होता है, कि आत्मा, परमात्मा और इन्द्रिय तीन वस्तुओं का जो स्पष्ट सन्देह रहित और यथार्थ बोध होता है, वही वस्तुतः दर्शन है। इस प्रकार तत्त्व और दर्शन की भेद रेखा हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है। दर्शन-शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय तत्त्व-मीमांसा अथवा तत्त्व-विचार ही होता है। परन्तु साथ में उस तत्त्व की परीक्षा करने के लिए ज्ञान-मीमांसा भी की जाती है। और

---

१ भारतीय तत्त्व विद्या, पृ. ५-६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उस तत्त्व को जीवन में कैसे उतारा जाता है, इसके लिए आचार-मीमांसा की भी आवश्यकता होती है। भारतीय दर्शनों की यह परम्परा रही है कि जब किसी भी दर्शन पर विचार किया जाता है, तब उसकी तत्त्व-मीमांसा, ज्ञान-मीमांसा और आचार-मीमांसा का ही विश्लेषण एवं संश्लेषण किया जाता है। किन्तु पाश्चात्य दर्शन की स्थिति इससे भिन्न है। उसमें आचार के लिए जरा भी स्थान नहीं है। और तत्त्व-मीमांसा अधिक विकसित नहीं बन पाई। उनका एक मात्र बल ज्ञान-मीमांसा पर ही केन्द्रित रहा है।

ग्रीक और भारतीय तत्त्व-चिन्तन :

सामान्य रूप से यह माना जाता रहा है, कि ग्रीक और भारतीय तत्त्व-चिन्तन की ये दो धाराएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। कुछ विद्वान एक लम्बे समय से इन दोनों विचारधाराओं के परस्पर सम्बन्ध का विचार करते रहे हैं। यह प्रश्न उठाने वाले पाश्चात्य विद्वान ही हैं। और इसका उत्तर सर्व-प्रथम उन्हीं की ओर से दिया गया है। बाद में कुछ भारतीय विद्वानों ने भी उधर अपना ध्यान दिया। और ग्रीक एवं भारतीय तत्त्व का परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध में विचार-चर्चा प्रारम्भ की। कुछ जर्मन और दूसरे विद्वान अपने तुलनात्मक अध्ययन के बल पर यह मानते थे, कि ग्रीक तत्त्व-चिन्तन का भारतीय तत्त्व-चिन्तन पर प्रभाव पड़ा है। दूसरी ओर गार्वे जैसे विद्वान यही मानते रहे हैं कि भारतीय तत्त्व-चिन्तन का ग्रीक तत्त्व-चिन्तन पर प्रभाव पड़ा है। मैक्स मूलर ने इस सम्बन्ध में जो सोचा है, वह यह है कि किसी एक विचारधारा का दूसरी विचारधारा पर प्रभाव पड़ा हो, इस प्रकार का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। फिर भी यह सत्य है कि ग्रीक और भारतीय तत्त्व-चिन्तन में कुछ साम्यता अवश्य है। इस साम्यता के आधार पर यह कहना है कि एक दूसरे का प्रभाव एक दूसरे पर पड़ा है, उचित नहीं कहा जा सकता। डा० राधाकृष्णन ने भी इस सम्बन्ध में अपना विचार व्यक्त किया है। उनका मन्तव्य है कि ग्रीक तत्त्व-चिन्तन की अनेक आध्यात्मिक एवं संयम-प्रधान जीवन की बातों पर भारतीय तत्त्व-चिन्तन का और उनके संयमी जीवन का स्पष्ट ही प्रभाव पड़ा है।[1] इस प्रकार तत्त्व-चिन्तन को लेकर विद्वानों में परस्पर विचार-भेद रहा है।

---

१ भारतीय तत्त्व-विद्या, पृ० १५-१६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्व-ज्ञान और विज्ञान :

विज्ञान और तत्त्व-ज्ञान में क्या भेद है ? इस प्रश्न के उत्तर के पूर्व हमें विज्ञान और तत्त्व-ज्ञान को समझना पड़ेगा। विज्ञान के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है, कि भौतिक विज्ञान प्रकृति के रूपों और उसकी क्रियाओं का अध्ययन करता है। प्रकृति की अभिव्यक्ति तीन रूपों में होती है—ठोस, तरल और गैस। ठोस पदार्थ के अणु एक-दूसरे के निकट रहना चाहते हैं, यही कारण है, कि ठोस पदार्थ का विस्तार और आकार स्थिर होते हैं। जैसे—मैं किसी पुस्तक को देखता हूँ, तो पुस्तक का विस्तार और आकार स्थिर रूप में रहता है। तरल पदार्थ के अणुओं में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता, वे सीमाओं के अन्दर अपने स्थान को बदल सकते हैं। यही कारण है, कि उसका विस्तार तो स्थिर होता है पर आकार स्थिर नहीं होता। जैसे—मेरे सामने ग्लास में पानी रखा है। अभी वह ग्लास के आकार में है, और दूसरे पात्र में डाल देने से उसका दूसरा आकार बन जाता है। गैस के अणु एक-दूसरे से जितनी दूर जा सके, जाना चाहते हैं। यही कारण है, कि उसका विस्तार और आकार निश्चित नहीं होता। प्रकृति की क्रिया गति के रूप में होती है। भौतिक-विज्ञान सामान्य प्रकृति का अध्ययन करता है। वह प्रकृति के विविध गुणों की ओर ध्यान नहीं देता। रसायन-विद्या इस भेद की ओर विशेष ध्यान देती है। उसका कार्य प्रकृति के संयोग एवं वियोग का अध्ययन करना है। हाईड्रोजन और आक्सीजन विशेष मात्रा में मिलें, तो जल प्रकट हो जाता है, जिसके गुण उन दोनों के गुणों से भिन्न होते हैं। प्राणी-विद्या जीवन के विविध रूपों का अध्ययन करती है। इस प्रकार विज्ञान के अनेक रूप हैं।[1]

तत्त्व-ज्ञान का क्षेत्र विज्ञान से भिन्न भी है, और व्यापक भी। इस के क्षेत्र के बाहर कुछ भी नहीं। विज्ञान की प्रत्येक शाखा सत्ता के किसी एक अंश का अध्ययन करती है, जबकि तत्त्व-ज्ञान का विषय समग्र-सत्ता है। इसके विस्तार और आकार निःसीम है। समग्र विश्व इसके विवेचन का विषय है। यही कारण है, कि तत्त्व-ज्ञान विज्ञान से अलग पड़ जाता है। प्रकृति-विज्ञान तथ्य की खोज को अपने उद्देश्य में प्रथम स्थान देता है, जबकि तत्त्व-ज्ञान भौतिक तत्त्वों को अपने विवेचन का विषय बनाता है।

भौतिक-विज्ञान प्रकृति और उसकी गति के विषय में खोज करता

---

१ तत्त्व-ज्ञान, पृष्ठ ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। गति एक स्थान से दूसरे स्थान को होती है। किसी वैज्ञानिक से जब यह पूछा जाता है, कि तुम्हें कैसे मालूम है, कि प्रकृति का अस्तित्व है ? तुम्हें कैसे पता है, कि देश और काल सत्ता के भाग हैं, और भ्रम-मात्र नहीं ? वह उत्तर देता है, कि मैं इन झमेलों में नहीं पड़ता। जो कुछ मेरे सामने प्रस्तुत है, मैं उसी पर विचार करता हूँ, उसी का प्रयोग करता हूँ और उसी का परीक्षण करता हूँ। इसके विपरीत तत्त्व-ज्ञान किसी भी उलझन से बचने का प्रयत्न नहीं करता, बल्कि वह उन्हें सुलझाने का ही प्रयत्न करता है। जब हम बाहर की ओर देखते हैं, तो घटनाओं को ही देखते हैं। परन्तु कभी-कभी हम अन्दर की ओर भी दृष्टि को फेरते हैं, वहाँ हम ज्ञान के साथ पसन्द और ना-पसन्द भावों को भी देखते हैं। हम नीच और ऊँच में भेद करते है। भौतिक-विज्ञान के लिए राग और कोलाहल दोनों शब्द मात्र हैं। तत्त्व-ज्ञान आदर्शों को अपने अध्ययन क्षेत्र में उच्च स्थान देता है। यह आदर्श सत्य, सुन्दर और शिव के रूप में अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार विज्ञान और तत्त्व-ज्ञान में मुख्य रूप से तीन भेद हैं--

१. विज्ञान की प्रत्येक शाखा अपने लिए एक सीमित क्षेत्र निश्चित करती है, तत्त्व-ज्ञान का विषय समस्त सत्ता है।

२. विज्ञान की प्रत्येक शाखा अपना अध्ययन कुछ धारणाओं के आधार पर प्रारम्भ करती है, जबकि तत्त्व-ज्ञान समस्त धारणाओं पर विचार करता है, और अपना निर्णय देता है।

३. विज्ञान प्रकटनों की दुनिया से परे नहीं जाता, वह यह भी नहीं पूछता, कि इस दुनिया से परे कुछ दूसरा है भी, या नहीं, तत्त्व-ज्ञान के लिए यह प्रश्न अतीव महत्त्व का है।[1]

इस प्रकार विज्ञान और तत्त्व-ज्ञान एक-दूसरे से अलग रहकर भी सत्य की शोध करते हैं, और अपनी-अपनी पद्धति से उसकी व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। विज्ञान का क्षेत्र सीमित है, जबकि तत्त्व-ज्ञान की किसी भी प्रकार की सीमा नहीं है।

धर्म और तत्त्व-ज्ञान :

मैं आपके सामने तीन वाक्य बोल रहा हूँ—बाहर की ओर देखो,

---

१ तत्त्व-ज्ञान, पृष्ठ ६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्दर की ओर देखो, ऊपर की ओर देखो। भौतिक विज्ञान कहता है—बाहर की ओर देखो। बाहर की ओर हम देखते तो रहते ही हैं, विज्ञान कहता है, कि जो कुछ देखें उसे व्यवस्थित और गठित करें। मनोविज्ञान कहता है—अन्दर की ओर देखो। अन्दर की ओर भी हम देखते ही रहते हैं, पर अनियमित रूप में। मैं नदी के किनारे बैठा हूँ—उसके विस्तार, उसके आकार, उसकी लहरें और उसके प्रवाह को देख रहा हूँ। पीछे से एक मित्र आता है, और कहता है—क्या कर रहे हो ? मैं कहता हूँ—नदी का आनन्द ले रहा हूँ। मित्र के आने से पहले मैं बाहर की ओर देख रहा था, और उसके प्रश्न पूछने पर मैंने अन्दर की ओर देखना प्रारम्भ किया, और देखा कि अन्तर में क्या चिन्तन चल रहा है ? मनोविज्ञान कहता है, कि जो कुछ मन के विषय में देखो, उसे व्यवस्थित करो। इस प्रकार भौतिक-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों मनुष्य को तथ्यों की दुनिया में रखते हैं। धर्म कहता है—ऊपर की ओर देखो। तब हम तथ्य की दुनिया से ऊपर उठते हैं, और आदर्शों की दुनिया में पहुँच जाते हैं। हम अपने अल्प स्वत्व को विश्व का केन्द्र नहीं, उसका एक तुच्छ भाग समझते हैं। धर्म हमें वैसा करने का आदेश देता है।[1] धर्म केवल मन्तव्य नहीं, जीवन का ढंग है। प्रकाश नहीं, आत्म-सिद्धि इसका लक्ष्य है। इस लक्ष्य में मंतव्य और कर्तव्य दोनों सम्मिलित हैं। यहाँ हमें देखना है, कि धर्म और तत्त्व-ज्ञान के दृष्टिकोण में क्या भेद है।

फ्रांस के विचारक आगस्ट कामट का विचार है, कि अपने मानसिक विकास में समस्त मानव जाति तीन स्तरों से गुजरी है। जिस जगत में हम जीवन व्यतीत करते हैं, उसे समझना आवश्यक है। उसे समझने के लिए कामट ने तीन स्तरों का उल्लेख किया है —

१. प्रथम स्तर में विश्व की घटनाओं को चेतन शक्तियों की क्रिया समझा जाता था। जब अनेक देवी-देवताओं के स्थान में एक ईश्वर की पूजा होने लगी, तब भी प्रकृति की घटनाओं के समाधान में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इसको आस्तिकवाद कहा जाता है।

२. द्वितीय-स्तर में चेतन-देव अथवा देवों का स्थान अचेतन शक्तियों ने लिया। प्रथम स्तर में लोग विश्वास करते थे, कि ईश्वरीय व्यवस्था के अधीन चन्द्र पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। द्वितीय स्तर में

---

१ तत्त्व-ज्ञान, पृष्ठ ७-८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्होंने आकर्षण शक्ति की शरण ली। कामट इसे दार्शनिक-स्तर कहता है।

३. तृतीय-स्तर में जिस पर मानव जाति अब चल रही है, कल्पना को एक ओर रख दिया है, और तथ्य को यथार्थ रूप में देखना ही पर्याप्त समझा जाता है। यदि किसी समाधान की सम्भावना है, तो वह हमारी पहुँच से परे है। कामट इसे वास्तविकता-वाद कहता है। कामट के अनुसार धर्म और तत्त्व-ज्ञान दोनों पूर्वकाल में सांसारिक घटनाओं के समाधान स्वीकार किए जाते थे। अब दोनों का समय बीत चुका है।

जर्मनी के दार्शनिक हेगल ने धर्म और तत्त्व-ज्ञान को अभिन्न बताया है। भारत में गीता में कुछ लोग तत्त्व-ज्ञान पढ़ते हैं, पर अधिकांश लोग इसे धर्म-पुस्तक के रूप में देखते हैं। एक अन्य विचार के अनुसार धर्म तत्त्व-ज्ञान से आगे जाता है। तत्त्व-ज्ञान आत्मिक जीवन के एक अश के साथ सम्बद्ध है, इसका श्रद्धा और कर्म से सम्बन्ध नहीं। धर्म का उद्देश्य आत्म-सिद्धि है, जिसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों का मूल्य है। विज्ञान, तत्त्व-ज्ञान और धर्म तीनों सत्य का स्वरूप जानना चाहते हैं, पर उसे कैसे प्राप्त किया जाए। यह एक समस्या है, जिसका समाधान भारतीय-दर्शन इस प्रकार से देता है—

भारत में दर्शन-शास्त्र प्रमाणों को अपने अध्ययन का एक मुख्य विषय बताता आया है। प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रत्यक्ष वह है, जो इन्द्रियों के प्रयोग से प्राप्त होता है, अथवा अन्दर की ओर दृष्टि डालने से स्पष्ट अनुभूत होता है। जैसे—मैं कलम को देखता हूँ। परमाणुओं को हम देख नहीं सकते, परन्तु जो कुछ देखते हैं, उसके आधार पर उसका अनुमान करते हैं। एक लड़का अपनी माँ को पीट रहा है। मैं जानना चाहता हूँ, कि वह ऐसा क्यों करता है? स्थिति को देखकर मैं अनुमान करता हूँ, कि उसके दिमाग में कुछ विकार है। लड़के का पिता पास खड़ा देख रहा है। मैं उसकी इस भावना को नीच वृत्ति कहता हूँ। यह ऊँच-नीच का विचार न प्रत्यक्ष है, और न अनुमान, यह शब्द प्रमाण है। विज्ञान में प्रत्यक्ष प्रधान है, तत्त्व-ज्ञान में अनुमान की प्रधानता है, और धर्म शब्द प्रमाण पर आश्रित है। धर्म का अर्थ है—शास्त्र-आश्रित भावना।

इतिहास और दर्शन :

क्या दर्शन को किसी इतिहास की आवश्यकता है? भारतीय विद्वान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका निषेधात्मक उत्तर देते हैं। पर पाश्चात्य विद्वान यह स्वीकार करते हैं, कि जब ज्ञान के अन्य क्षेत्रों का इतिहास हो सकता है, तब दर्शन-शास्त्र का इतिहास क्यों नहीं होगा ? भारतीय-दर्शन इतिहास-बद्ध नहीं है, इस प्रकार का आक्षेप पाश्चात्य विद्वान किया करते हैं। वास्तव में भारतीय-दर्शन, अपने आप में दर्शन है, विचार-शास्त्र है, वह संवत और तिथियों की गणना को उतना महत्व नहीं देता, जितना कि विचारों की क्रम-बद्धता को। यदि विचारों की क्रम-बद्धता का नाम ही इतिहास हो, तब निश्चिय ही वह भारतीय-दर्शन में पहले भी उपलब्ध था, और आज भी उपलब्ध है। पाश्चात्य-दर्शन की स्थिति भारतीय-दर्शन से भिन्न है। उसका अपना एक क्रम-बद्ध इतिहास है, और क्रमिक विकास भी। दर्शन-शास्त्र का इतिहास मानव के दार्शनिक विवेचन की एक लम्बी कहानी है। पाश्चात्य विद्वानों ने दर्शन-शास्त्र के इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया है—

१. प्राचीन तत्त्व-ज्ञान
२. मध्यकालीन तत्त्व-ज्ञान
३. नवीन तत्त्व-ज्ञान

कुछ लोग मध्यकालीन तत्त्व-ज्ञान को प्राचीन और नवीन काल में मेल करने वाली कड़ी समझते हैं, और इतिहास के दो भागों को ही महत्व-पूर्ण समझते हैं। प्राचीन काल में जो स्वतन्त्र विचार हुआ, उसका मुख्य केन्द्र यूनान रहा। रोम का विचार यूनान के विचार पर आधारित था। आधुनिक काल में यूरोप में अनेक स्थानों में विवेचक विद्वान प्रकट हुए हैं। इस विचार पर से पश्चिमी-दर्शन के इतिहास को यूनानी और यूरोपी दो भागों में भी बांटा जा सकता है। अपनी कल्पना से हम दर्शन-शास्त्र के इतिहास के अन्य विभाग भी कल्पित कर सकते हैं और किए भी हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है—दर्शन-शास्त्र के मुख्य तीन विषय हैं—बाह्य जगत, जीव और ईश्वर। प्राचीन यूनान के लोग जानना चाहते थे, कि यह जगत कहाँ से आया ? कैसे आया ? और क्यों आया ? विचारकों ने जगत के मूल तत्त्व की व्याख्या करते हुए—किसी ने जल को, किसी ने अग्नि को और किसी ने वायु को उसका मूल कारण बताया। किसी ने आगे बढ़कर यह भी कहा, कि जगत के मूल कारण को प्रकृति में ढूँढ़ना व्यर्थ है, इसके लिए चेतन-शक्ति की आवश्यकता है। अरस्तू ने कहा, कि सारे अन्धों में केवल एक रोनक्सेगोरस ही एक देखने वाला था, इसके पीछे यूनान में मुख्य प्रश्न विश्व और चेतन इसके मूल कारण के सम्बन्ध को समझा जाने लगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मध्य काल में मुख्य प्रश्न आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध बना। इस काल के विचारक प्लेटो और अरस्तू के विचारों से प्रभावित थे। ईसाई मत को भी वे स्वीकार कर चुके थे। उनका प्रयत्न यह था, कि बाइबिल की शिक्षा को इन दार्शनिकों की शिक्षा के अनुकूल सिद्ध करें। यही कारण है, कि इस काल के विद्वानों के विचार स्वतन्त्र नहीं रहे। क्योंकि वे जकड़ों में जकड़े हुए थे—एक अरस्तू के विचारों को, और दूसरी बाइबिल की। वास्तव में इस मध्यकाल के चिन्तन को दर्शन नहीं कहा जा सकता, उसकी व्याख्या ही कहा जा सकता है।

नवीन काल का प्रारम्भ १५ वीं शती से होता है। इस युग की मुख्य विशेषता विचारों की स्वाधीनता है। तत्त्व-ज्ञान को धर्म से अलग किया गया। प्लेटो और अरस्तू को भी आलोचना का विषय बना दिया गया। इस कार्य को करने का मुख्य श्रेय बेकन को है। बेकन का मौलिक सिद्धान्त यह था—वास्तविकता को देखो, और अपनी कल्पना से आरम्भ न करो। वह कहता है, कि देखो तथ्य क्या है? जानलॉक ने वर्षों अपनी मानसिक अवस्थाओं का परीक्षण करके अपनी विख्यात पुस्तक लिखी। बर्कले और ह्यूम ने इसे चरम सीमा तक पहुँचा दिया। फिर जर्मनी विद्वानों ने उसके चार चाँद लगा दिए। इस प्रकार पाश्चात्य-दर्शन का इतिहास तैयार होता गया।

पाश्चात्य-दर्शन का जन्म यूनान की धरती पर हुआ। रोम की धरती पर वह पालित और पोषित हुआ। यूरोप की जमीन पर पहुँच कर उसमें यौवन उभर आया। जर्मनी में पहुँचकर उसमें प्रौढ़ता और गम्भीरता का समावेश हुआ। और अमेरीका में पहुँचकर उसमें वृद्धत्व आ गया। इस प्रकार पाश्चात्य-दर्शन का इतिहास प्रत्येक युग में विचारों का केन्द्र बना रहा। उसका प्रतिपादन और व्याख्यान क्रम-बद्ध होता रहा। यह तो नहीं कहा जा सकता, कि इसी में सदा से ही एक जैसी गतिशीलता रही हो, किन्तु इतना निश्चित है, कि इसमें कहीं पर स्थिरता नहीं आ पाई, और गति चालू रही।

दर्शन का क्षेत्र और लक्ष्य :

दर्शन शास्त्र का क्षेत्र अन्य सभी ज्ञान एवं विज्ञानों से विस्तृत एवं व्यापक है। दर्शन का लक्ष्य है, सत्य का साक्षात्कार करना। केवल साक्षात्कार ही नहीं करना, जो कुछ देखा और परखा है, उसे जीवन का अंग किस प्रकार बनाया जाए, इसका चिन्तन करना और उस चिन्तन को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रियात्मक रूप देना, इतना विशाल क्षेत्र दर्शन का माना गया है। कुछ लोग दर्शन को अनुपयोगी इसलिए ठहराते हैं, कि दार्शनिक किसी भी विषय पर एकमत अथवा सहमत नहीं हो पाते, जबकि वैज्ञानिकों का अपने क्षेत्र के अनेक विषयों पर एक ही मत होता है। जैसे गणित का सिद्धान्त है, कि दो और दो मिलकर चार ही होते हैं। कम या अधिक होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। हाईड्रोजन और आक्सीजन को किस मात्रा में मिलाने से पानी बनता है, मलेरिया बुखार का क्या कारण है, इन प्रश्नों पर वैज्ञानिकों का एक ही मत है। इस प्रकार वैज्ञानिक क्षेत्र में सबका एक ही सार निकलता है, जबकि दार्शनिक आत्मा का क्या स्वरूप है ? परमात्मा का क्या स्वरूप है ? आत्मा अमर है अथवा नहीं ? ईश्वर का अस्तित्व है कि नहीं ? जगत का वास्तविक स्वरूप और कारण क्या है ? इन सभी प्रश्नों पर एक ही युगों के दार्शनिकों का विभिन्न मत होता है। निश्चय ही दर्शन के विरुद्ध यह आक्षेप कुछ सीमा तक सत्य हो सकता है, परन्तु दार्शनिक एकमत अथवा सहमत होते ही नहीं, यह कथन सर्वथा भ्रान्त है। जगत जड़ है, आत्मा चेतन है, जन्म एवं मरण होता है, इन तथ्यों को लेकर दार्शनिकों में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं है। आत्मा की अमरता का प्रतिपादन जैसा जैन दर्शन में, वैदिक दर्शन में किया गया है, उसी प्रकार का प्रतिपादन हमें यूनान के दार्शनिक पाइथा गोरस में और प्लेटो में देखने को मिलता है। योरूप के दार्शनिकों में भी डेकार्ट आत्मा की अमरता में विश्वास करता है। काण्ट और हेगेल जैसे जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक भी इस तथ्य को मानने से इन्कार नहीं करते, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि दार्शनिक किसी विषय पर एकमत अथवा सहमत नहीं हो पाते। दर्शन शास्त्र के सम्बन्ध में यहाँ छह सिद्धान्तों पर विचार करना आवश्यक है, जिससे पता चलेगा कि दर्शन आत्मा का क्षेत्र और लक्ष्य क्या है—

१. दर्शन के विषय साधारण तौर से अनुभव से परे हैं। हमें केवल बुद्धि का सहारा लेकर उनके सम्बन्ध में कुछ निर्णय करना पड़ता है। बुद्धि प्रायः हमारे पूर्व संचित संस्कारों से दूषित रहती है, अतः हमारे निर्णय हमारे भिन्न-भिन्न संस्कारों के अनुकूल अलग-अलग होते हैं, इसलिए यदि दार्शनिक विषयों पर हमारा एकमत नहीं होता, तो इसका दोष हमारी दूषित बुद्धि को हैं, न कि दर्शन को। जो दर्शन जितना निष्पक्ष, शुद्ध एवं तर्कसंगत विचार का परिणाम होता है, वह उतना ही उत्कृष्ट एवं सत्य के निकट

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। एक दार्शनिक व्यक्ति जितनी शुद्ध दार्शनिक रीति से दार्शनिक विषयों पर विचार करता है, वह उतना ही अपने विचारों का सामंजस्य एवं दूसरे विचारों के साथ समन्वय स्थापित कर सकता है।

२. वैज्ञानिक भी साधारण विषयों पर एकमत होते हुए, उन विषयों पर सहमत नहीं होते, जो पदार्थों के अन्तिम स्वरूप से सम्बन्ध रखते हैं, और परीक्षण एवं प्रयोग की पहुँच के बाहर हैं। जोड महोदय का कहना है कि आजकल भौतिक शास्त्र जड़ जगत के सात्त्विक स्वरूप और गठन के सम्बन्ध में हमारे सन्मुख प्रति दस वर्ष पर एक नया मत प्रस्तुत कर रहा है और जीव-विज्ञान में अब भी जीवन के स्वरूप और विकास के सम्बन्ध कोई एकमत निश्चित नहीं हो पाया है।[1] जोड का मत यथार्थ प्रतीत होता है।

३. हम पहले ही कह चुके हैं कि दर्शन का इतिहास सत्य के शोध के क्षेत्र में विचार सम्बन्धी विविध प्रकार के प्रयोगों का इतिहास है। इस इतिहास के मध्य में जो प्रयोग असफल हुए, उन्हें दर्शन ने त्याग दिया। कुछ प्रयोग अब भी जारी हैं, और कुछ सफल मान लिए गए हैं। यह बात नहीं है कि दर्शन किसी भी महत्त्वपूर्ण समस्या पर किसी निर्णय पर न पहुँच सका हो। कुछ समस्याएँ इस प्रकार की हैं, जिन पर प्रायः सभी दार्शनिकों का एकमत है। म्योरहेड का कहना है, कि इस सिद्धान्त पर सभी दार्शनिक एकमत हैं कि, प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक वस्तु से कुछ न कुछ सम्बन्ध है और किसी भी वस्तु को अन्य वस्तुओं से सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार एकवाद और अनेक वाद के स्थान पर एकानेकवाद (multi pleausim) का सिद्धान्त प्रायः सभी दार्शनिकों को मान्य है। इस पर सब एकमत हैं।

४. दर्शन का सम्बन्ध सत्य से है। सत्य अनन्त और पूर्ण समन्वयात्मक है। सत्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक समन्वयात्मक दृष्टि की आवश्यकता है। मनुष्य की बुद्धि अल्प और दृष्टिकोण सीमित है, इसलिए पूर्ण रूप से समन्वयात्मक दृष्टिकोण साधारण मनुष्य में सम्भव नहीं है। इस अवस्था में सत्य के सम्बन्ध में हमारे मतों का एकांगी होना स्वाभाविक भी है। यह मत अपने स्थान पर सत्य होते हुए भी इसलिए एक-दूसरे के विरोधी हों, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु दर्शन का उद्देश्य है,

---

१ Return to Philosophy, P. 212—goad

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन विरोधों को दूर कर, उनमें सामञ्जस्य स्थापित करना। दर्शन को सफलता और उन्नति मनुष्य के विकास और उसकी बुद्धि की स्वच्छता एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाने की क्षमता पर निर्भर करती है। जैसा कि भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया और दर्शन के क्षेत्र में नित्यवाद एवं अनित्यवाद, सत्वाद एवं असत्वाद, जैसे विरोधी सिद्धान्तों का समन्वय करने का सफल प्रयास किया है।

५ कुछ लोग दर्शन की उपयोगिता को केवल इस बात से आँकने का प्रयत्न करते हैं, कि इसने ज्ञान के क्षेत्र में कितनी समस्याओं का समाधान किया है, और क्या-क्या निर्णय किए हैं। परन्तु यह कसौटी केवल इस बात की कसौटी है, कि मनुष्य ने ज्ञान के क्षेत्र में कितनी उन्नति की है और अपने मानसिक विकास की कौन-सी सीढ़ी तक पहुँचा है। दर्शन मुख्य रूप से एक क्रिया है, एक पद्धति है। उसका फल इस बात पर निर्भर करता है कि हम इस क्रिया और पद्धति का कितना सही-सही प्रयोग करते हैं। यदि फल कुछ सन्तोषजनक नहीं भी है, तो इसमें दोष हमारा है, न कि दर्शन का।

६. जोड़ का कहना है कि दर्शन की महत्ता का कारण वह प्रश्न हैं, जिन्हें दार्शनिक उठाता है, और उनको हल करने की पद्धति जिसे वह अपनाता है, न कि उनके उत्तर जो वह दे पाता है।[1] उन प्रश्नों को उठा कर दर्शन अन्धविश्वास के अन्धकार को विदीर्ण करता है और निरुद्देश्य सत्यानुसन्धान का मार्ग प्रशस्त करता है। पक्षपात रहित निरुद्देश्य सत्यानुसंधान उसके हृदय और मस्तिष्क को उदार बनाता है। उसके अन्दर विपक्षियों के मत को सुनने और समझने तथा उस पर निष्पक्षता से विचार करने की क्षमता प्रदान करता है। इसलिए दर्शनशास्त्र के प्रश्न और पद्धति अपने आप में दर्शन की एक बहुत बड़ी देन है। दर्शन का क्षेत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार के प्रश्न क्यों उपस्थित होते हैं, इसका एकमात्र कारण

---

1 It is for the sake of questions themselves, which philosophy studies, and of the methods with which it pursues them, rather than for any set of answers that it propounds, that philosophy is to be values.—Return to Philosophy, p. 215.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह है कि पाश्चात्य दर्शन अपने मध्यकाल से ही विज्ञान से अभिभूत होता रहा है। आज भी वहाँ का विज्ञान वहाँ के दर्शनशास्त्र पर हावी है। मध्य काल में कुछ दार्शनिक योरुप में इस प्रकार के भी हुए, जिन्हें दार्शनिक कहने में संकोच होता है। वे दार्शनिक की अपेक्षा वैज्ञानिक अथवा राजनैतिक ही अधिक थे। राजनीति में सक्रिय भाग लेना, वहाँ के दार्शनिक शायद अपना कर्त्तव्य मानते रहे थे। यही स्थिति विज्ञान के सम्बन्ध में भी है। वहाँ के दार्शनिक दर्शन की अपेक्षा विज्ञान से अधिक प्रभावित रहे हैं। अतः विज्ञान की वकालत करना उनका एक स्वभाव-सा बन गया था। इसके विपरीत भारतीय दार्शनिक प्रारम्भ से ही दार्शनिक रहे हैं। यहाँ पर दार्शनिकों की एक लम्बी परम्परा रही है। मतभेद होना दर्शन का दोष नहीं है। किन्तु उन मतभेदों में समन्वय स्थापित न हो सकना, अथवा एक दिशा की ओर प्रगति न करना, अवश्य ही दोष कहा जा सकता है। भारतीय दर्शनों में कितना भी मतभेद रहा हो, किन्तु उनकी प्रगति एक ही दिशा की ओर रही है, और समन्वय भी होता रहा है।

दर्शन की सीमा रेखा :

यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि दर्शन की सीमा-रेखा क्या है? वैसे दर्शन की कोई सीमा नहीं है। क्योंकि दर्शन अनन्त सत्य का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र है। फिर भी उसके चिन्तन की सीमा के सम्बन्ध में हमें अवश्य ही विचार करना होगा। दर्शन का विषय (Scope of Philosophy) वास्तव में यही है कि जगत, जीवन और ईश्वर के सम्बन्ध में विचारों का प्रतिपादन करना। दर्शन की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसने पहले जगत का ही विचार किया था, आत्मा और ईश्वर का विचार उसमें बाद में आया। यदि इस अभिप्राय को हम स्वीकार भी कर लें, तब भी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती। इससे दर्शनशास्त्र के विकास की प्रक्रिया ही हमारे ध्यान में आती है। परन्तु विश्व में अनेक दार्शनिक परम्पराएँ इस प्रकार की रही हैं, जिनमें प्रारम्भ से ही जगत, जीव और ईश्वर का चिन्तन रहा है। यह स्पष्ट है कि दर्शन का उद्देश्य जीवन और विश्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना है। इसलिए दर्शन का विषय इतना व्यापक है कि उसकी कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। प्रत्येक विज्ञान का एक सीमित क्षेत्र होता है, जिसके विषय में वह विशेष ज्ञान-

---

१ पाश्चात्य दर्शन दर्पण, पृ. ४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाभ करने की चेष्टा करता है। परन्तु दर्शन का ऐसा कोई सीमित क्षेत्र नहीं है। वस्तुतः इस प्रकार का कोई विषय ही नहीं है, जो दर्शन की परिधि से बाहर रह सकता हो। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक विज्ञान दर्शन की एक शाखा है, और अपने सीमित क्षेत्र में वह दर्शन का ही कार्य करता है।[1] दर्शन विज्ञानों द्वारा अपने भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में संचित ज्ञान का समन्वय करता है और इस समग्र ज्ञान का धर्म (religion) और नीतिशास्त्र (ethics) द्वारा प्राप्त उस ज्ञान से समन्वय करता है, जो विज्ञानों की सीमा के बाहर है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण विश्व का समन्वयात्मक चित्र खींच कर उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इसीलिए प्लेटो (plato) ने कहा है कि दार्शनिक सम्पूर्ण विश्व का दर्शक है—The Philosopher is the Spector ot all time & all existence. प्लेटो की इस परिभाषा के अनुसार दार्शनिक सार्वभौमिक और सार्वकालिक तत्त्व का चिन्तन करके विश्व के सामने प्रस्तुत करता है। अतः दर्शन को किसी सीमा में आबद्ध करना उपयुक्त नहीं है। दर्शन को किसी क्षेत्र में बाँध के रखना यह मानव को चिन्तन धारा के साथ न्याय नहीं होगा।

दार्शनिक विचारों की स्वाभाविकता :

दर्शन के विषय के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि दर्शन मनुष्य की स्वाभाविक क्रिया है। इस प्रकार का कोई भी मनुष्य नहीं है, जिसने आत्मा और परमात्मा तथा जगत एवं जीवन के चरम लक्ष्य के सम्बन्ध में कभी कुछ विचार न किया हो। यह हो सकता है कि इस दिशा में किसी के विचार स्पष्ट हों, और किसी के न हों। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति भले ही वह मन्दबुद्धि क्यों न हो, पर प्रत्यक्ष रूप में अथवा परोक्ष रूप में वह अतीन्द्रिय पदार्थों पर अवश्य ही विचार करता है। उसके जीवन की परिस्थिति उसे इन विषयों पर विचार करने के लिए बाध्य करती है, जैसा कि कहा गया है —

Philosophy that grows directly not of life and its needs. Every one who lives, if he lives at all reflectively is in some degree a philosopher.[1]

अरस्तू का कहना है—Whether we philosophy or not, we must phiolsophise. दार्शनिक विचार हमारी इच्छा अथवा अनिच्छा पर

१ J. W. Cunmies ham Problums of Philosophy, P. 5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्भर नहीं रहते बल्कि वे हमारे स्वभाव में ही हैं। वे न तो आकस्मिक हैं और न अप्राकृतिक। वे हमारे जीवन का अंग हैं, और उनके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। क्योंकि चिन्तन करना, मनुष्य का सहज स्वभाव है। इसीलिए मनुष्य को विवेकशील एवं चिन्तनशील कहा गया है। जब चिन्तन एवं विचार उसका मूल स्वभाव है, तब यह आवश्यक है कि दर्शन उसका स्वभाव है। वह अपने मूल रूप में ही एक दार्शनिक है।

इस सम्बन्ध में हाँकिंग ने एक बड़ी सुन्दर बात कही है। उसने कहा है कि जंगल से लकड़ी काटकर अपना पेट भरने वाला लकड़हारा भी कभी कभी श्रान्त एवं क्लान्त होकर पेड़ के नीचे बैठ जाता है और सुख एवं दुःख, जन्म तथा मरण, आत्मा और परमात्मा, आदि के सम्बन्ध में अपने ढंग से विचार करने लगता है। गाँव का बनिया भी जो दिन-रात अपनी तराजू में लगा रहता है, इस विषय में अपने कुछ न कुछ विचार अवश्य रखता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का जीवन अपनी मूल समस्याओं के समाधान के लिए आतुर रहता है। वही उसका दर्शन है। उसके व्यावहारिक जीवन का चित्र उसके दर्शन पर निर्भर करता है। जैसा उसका दर्शन होता है, वैसा उसका जीवन भी होता है। हाँकिंग (Hocking) महोदय ने चेष्टर्टन (Chesterton) के वाक्य को उद्धृत करते हुए कहा है—
The most practical & importent thing about a man is his view of the alsiverse his philosophy. The employee is at the mercy of the philosophy of his employer and the employer stakes his business on the philosophy of his emplnyees[1]

इस सम्बन्ध में पर्याप्त विचार किया जा चुका है, कि दर्शन शास्त्र जीवन की एक स्वाभाविक पद्धति है। जिस प्रकार विद्वान प्रयोग और परीक्षण पर आधारित रहता है, उस प्रकार का प्रयोग और परीक्षण भले ही दर्शन के क्षेत्र में न किया जाता हो, परन्तु यह निश्चित है, कि दर्शन शास्त्र अपने चिन्तन के बल पर ही उस सत्य का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है, जो वास्तविक रूप में मानव जाति के जीवन का ध्येय हो सकता है, और जिसके अभाव में मानव जाति अपनी प्रगति एवं विकास नहीं कर सकती। जिस जाति का अथवा जिस देश का दर्शन शास्त्र एवं

---

१ Hocking : Types uf Philosophy, 14

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूक्ष्म तत्त्वों का जितना स्पष्ट एवं गम्भीर होता है, वह जाति और देश उतना ही महान होता हैं। यही कारण है कि दर्शन शास्त्र मानव जाति का मार्गदर्शक रहा है। विज्ञान आदि का विकास भी मानव के दर्शन मूलक चिन्तन में से हुआ है, यह एक परम सत्य है।

पाश्चात्य दर्शन के विभाग :

जैसे-जैसे दर्शन का क्षेत्र विशाल और व्यापक होता जाता है, उसके विभाग की समस्याएँ भी हमारे सामने उपस्थित होती जाती हैं। जिस प्रकार भारतीय दार्शनिकों ने भारत के दर्शन का एक विभाग निश्चित किया है, उसी प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी अपने दर्शन का एक विभाग निश्चित किया है। दर्शन का व्यापकत्व इस बात से भी सिद्ध होता है, कि ज्ञान का और कोई भी क्षेत्र नहीं जिसका दार्शनिक पक्ष न हो। जब हम किसी भी विषय के मूल स्वरूप और मनुष्य जीवन के लिए उसके अन्तिम मूल्य पर विचार करने लगते हैं, तब दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं। अतः ज्ञान और विज्ञान के जितने विषय हैं अथवा जितने क्षेत्र हैं, उतने ही विषय एवं क्षेत्र दर्शन शास्त्र के हो जाते हैं। यहाँ पर दर्शन शास्त्र के छह विभाग प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१. विज्ञान का दर्शन (Philosophy of Science)
२. इतिहास का दर्शन (Philosophy of History)
३. अर्थशास्त्र का दर्शन (Philosophy of Economics)
४. राजनीति का दर्शन (Philosophy of Politics)
५. समाजवाद का दर्शन (Philosophy of Socialism)
६. साम्यवाद का दर्शन (Philosophy of Communism)

इस प्रकार दर्शन शास्त्र की अनेक शाखाएँ एवं प्रशाखाएँ आज योरुपीय दर्शन में विकास पर रही हैं, और अपने-अपने क्षेत्र में नवीनता प्रदान करने का प्रयास कर रही हैं। प्रत्येक शाखा आज इतनी समर्थ हो चुकी है, कि वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रख सके। योरुप के विश्व-विद्यालयों में आज प्रत्येक शाखा का सर्वांगीण अध्ययन करने की परम्परा चल पड़ी है। यही कारण है कि योरुपीय दर्शन आज भी गतिशील और विकासशील माना जा रहा है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस विकास का अन्तिम परिणाम क्या होगा। पर इतना कहा जा सकता है कि मानव जाति ने आज तक जो प्रगति की है और विकास का जो एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मापदण्ड स्थिर किया है, उस पर से उसका भविष्य शानदार प्रतीत होता है।

एक अन्य प्रकार से भी पाश्चात्य दर्शन का विभाजन किया जा सकता है, जो इस प्रकार है—

१. ज्ञान-विज्ञान (Epistemnlogy)
२. तत्त्व-विज्ञान (Metaphysis)
३. मान-विज्ञान (Exivlngy)

इस प्रकार का विभाजन भी पाश्चात्य दर्शन में देखने को मिलता है। इन तीन विभागों में समस्त योरुपीय दर्शन को समेट लिया गया है।[1] इस विभाजन का एक हो उद्देश्य है, कि विषय-प्रतिपादन में सुगमता रह सके।

१. **ज्ञान विज्ञान**—ज्ञान-विज्ञान दर्शन का मूल उद्देश्य विचार द्वारा विश्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना है। पर, इस उद्देश्य को सिद्ध करने की चेष्टा में लग जाने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि ज्ञान सम्भव है अथवा नहीं ? यदि सम्भव है तो कहाँ तक ? उसकी सीमा क्या है ? ज्ञान के उपकरण (Conortions) क्या हैं ? ज्ञान की सत्यता किस प्रकार निर्णय की जा सकती है ? इस प्रकार के ज्ञान सम्बन्धी विषयों की आलोचना दर्शन की जिस शाखा के अन्तर्गत की जाती है, उसे ज्ञान-विज्ञान कहा जाता है।

२. **तत्त्व-विज्ञान**—इसमें दर्शन की दूसरी शाखा वह है, जिसमें देश, काल, कार्य, कारण, तत्त्व, जड़, प्राण, मन और ईश्वर के स्वरूप की आलोचना की जाती है। इसे तत्त्व-विज्ञान कहा जाता है। इसकी अनेक शाखाएँ हो जाती हैं।

३. **मान-विज्ञान**—यह दर्शन की तीसरी शाखा है, जिसमें मूल्य-विषयक विज्ञान की आलोचना की जाती है, तथा सत्य और असत्य, शुभ और अशुभ एवं सुन्दर और असुन्दर के स्वरूप का निर्धारण किया जाता है। इसे मान-विज्ञान कहा जाता है।

इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन में दर्शन शास्त्र के विभाजन की समस्याएं

---

१ पाश्चात्य दर्शन दर्पण, पृ. ४ और ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समय-समय पर उठती रही हैं, और युगानुकूल उनका विभाजन भी होता रहा है। भारतीय दर्शन में भी हम दर्शन के क्षेत्र के विभाजन को अनेक रूपों में पाते हैं और इस सम्बन्ध में मैं पीछे लिख चुका हूँ। विभाजन का एक ही उद्देश्य है, कि हम अपने विषय को ठीक से समझ सकें।

इस प्रकार इस प्रकरण में पाश्चात्य-दर्शन की मूल मान्यताओं पर यहाँ प्रकाश डाला गया है। पाश्चात्य-दर्शन का विषय विस्तार इतना विशाल है, कि उसे व्यवस्थित रूप देने के लिए विभिन्न प्रकार से विभाजन अथवा विभाग किया गया है। किन्तु दर्शन-शास्त्र को जो निरन्तर प्रगतिशील हो, उसे किसी भी विभाग में विभक्त करना उचित नहीं, फिर भी यहाँ जो विभाग किए गए हैं, अथवा उसके मुख्य-मुख्य विषयों का जो परिचय दिया गया है, उसमें कोई धारा छूट न जाए उसका ध्यान रखा गया है। वास्तव में आज के इस विज्ञानवादी युग में विज्ञान और राजनीति का इतना प्राबल्य है, कि इसकी समग्र शाखाओं का यहाँ परिचय नहीं दिया गया है, उनका परिचय यथा-स्थान और यथा-प्रसंग आगे दिया जाएगा। और उसके सम्बन्ध में उसके मूल सिद्धान्तों के विषय में लिखा जाएगा। पाश्चात्य-दर्शन की पृष्ठभूमि अत्यन्त विस्तृत है। इतनी विस्तृत है, कि उसे यहाँ संक्षिप्त रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

विकासवाद के सम्बन्ध में यहाँ कुछ न लिखने का कारण यह है, कि विकासवाद दर्शन-शास्त्र न रहकर वह विज्ञान का ही एक अंग बन गया है। विकासवाद में जीव विज्ञान, और जड़-विज्ञान के सम्बन्ध में जो अभी तक शोध चल रहा है, उसके सम्बन्ध में जो नवीन मत स्थापित हो रहे हैं, उन सब को देखते हुए उसे दर्शन की संज्ञा देना कठिन है। विकासवाद ने जो तथ्य आज प्रस्तुत किए हैं—मानव का मन और मस्तिष्क उन्हें देखकर चकित है। विकासवाद की पद्धति शुद्ध दार्शनिक न होकर विज्ञानवादी अधिक है। यह शाखा आज अपना स्वतन्त्र रूप में अनुसंधान कर रही है। इसके अनुसंधानों का अन्तिम निर्णय क्या होगा? यह कहना सरल नहीं है। विकासवाद के सम्बन्ध में भी विशेष रूप में आगे लिखा जाएगा। परन्तु दर्शन क्या है? उसका स्वरूप क्या है? उसकी सीमा में कौन से तत्त्व आ सकते हैं? इसी उद्देश्य को लेकर यहाँ लिखा गया है। एक बात ध्यान में रहे, कि भारतीय-दर्शन और पाश्चात्य-दर्शन दोनों अपनी-अपनी पद्धति से ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा की व्याख्या करते हैं। आचार-मीमांसा की भारत की प्रत्येक दर्शन शाखा ने दर्शन का ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंग माना है जबकि पाश्चात्य-दर्शनों में नीति-शास्त्र का स्वतन्त्र रूप विकास हुआ है। यही बात सौन्दर्य-शास्त्र के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। भारतीय-दर्शन कला को दर्शन रूप में परिगणित नहीं करते हैं।

पाश्चात्य दर्शन की रूप-रेखा :

पाश्चात्य-दर्शन का प्रारम्भ यूनान में होता है। और उसका विस्तार यूरोप में हुआ। अमेरिका के दार्शनिकों ने भी दर्शन की अपने ढंग से व्याख्या की है। सत्य का अन्वेषण दार्शनिक का मुख्य कर्तव्य रहा है। पाश्चात्य-दार्शनिकों ने सत्य की खोज बड़े प्रेम और अध्यवसाय से की है। किसी भी देश के दर्शन पर उस देश के काल और परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है। युगानुकूल दर्शन की मूल मान्यताओं में भी अन्तर पड़ना इस अर्थ में स्वाभाविक हो सकता है। विश्व में दो ही दर्शन प्राचीन हैं—भारतीय-दर्शन, और यूनानी-दर्शन। यूनानी-दार्शनिकों ने सत्य की शोध में जो परिश्रम किया है, वह भारतीय-दार्शनिकों से किसी भी भाँति कम नहीं कहा जा सकता। यूनानी-दार्शनिक सत्य का साक्षात्कार करना चाहते थे, और उन्होंने जो साक्षात्कार किया, उसी का परिणाम यूनानी-दर्शन है। यूनानी-दर्शन का प्रभाव किस प्रकार रोम पर पड़ा है? फिर उससे यूरोप के विचारक प्रभावित होकर अपने दर्शन का विकास करते रहे? यही वस्तुतः पाश्चात्य-दर्शन की रूप-रेखा अथवा आकार-प्रकार हो सकता है। समग्र पाश्चात्य-दर्शन को चार कालों में विभाजित किया गया है—

१. प्राचीन-युग
२. मध्य-युग
३. अर्वाचीन-युग
४. आधुनिक-युग

प्राचीन-युग :

पाश्चात्य-दर्शन का उदय ग्रीस के दार्शनिकों से होता है। ग्रीस-दार्शनिकों में अथवा यूनानी-दार्शनिकों में सर्वोच्च नाम सुकरात (Sncrateas) का आता है। परन्तु उस देश में दर्शन का उदय सुकरात से बहुत पूर्व हो चुका था। यूनान के धर्म में भी दर्शन के सिद्धान्त के मूल बीज दृष्टिगोचर होते हैं। वहाँ की धार्मिक दन्त-कथा (Mythology) में एक दार्शनिक देवता की सूचना मिलती है। इस देवता का नाम था निमेसिस (Nemesis) इसका अर्थ होता है—व्यवस्था की देवी। उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्य था --जगत के पदार्थों में और घटनाओं में व्यवस्था स्थापित करना। क्योंकि ग्रीस में अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले प्रभावशाली देवता का नाम था—पेन (pen)। कहा जाता है, कि उसके पैर बकरे के थे, और उसकी बुद्धि भी बकरे की बुद्धि के समान ही मानी जाती थी। ग्रीक लोग इस अज-वाद और अज-बुद्धि देवता को अव्यवस्था का देवता कहते थे। इसके विध्वंसात्मक कार्यों से लोगों की रक्षा करने का काम अथवा जगत की रक्षा करने का काम व्यवस्था देवो के हाथ में था। जिस प्रकार वैदिक परम्परा के ऋषियों ने व्यवस्था करने वाला तत्त्व का नाम 'ऋत' रखा था, उसी प्रकार ग्रीक लोगों ने उसका नाम 'व्यवस्था-देवी' रखा। ग्रीक देश की यह कल्पना भारत के असुर और देवों की कल्पना से मेल खाती है। ग्रीक धर्म की यह पौराणिक कल्पना है। सम्पूर्ण ग्रीस देश व्यवस्था देवी को प्रसन्न करने के लिए और अव्यवस्था के देव के उत्पादों से बचने के लिए जो आराधना एवं उपासना करता था, वही वस्तुतः ग्रीस देश का प्राचीन धर्म है। इसी धर्म में से आगे चलकर विकास करते-करते इस प्रकार दर्शन की उत्पत्ति है।

तत्व-मीमांसा :

काल क्रम से पश्चिम-दर्शन का उदय ग्रीस के पूर्वी उपनिवेश आईओनिया (Ionia) यवन देश में हुआ था। वहाँ के दार्शनिकों ने सर्व-प्रथम जगत की मीमांसा की। जगत की वस्तुओं को देखकर उनके मन में आश्चर्य होता था, और इस आश्चर्य को शान्त करने के लिए जो प्रयत्न किए गए उसी में से यूनानी-दर्शन का जन्म हुआ। जगत के सम्बन्ध में जो सबसे पहला प्रश्न था, वह यह था, कि जगत क्या है? कहाँ से आया? और कैसे आया? इसका कारण क्या है? इस जगत में विफलता क्यों होती है? और उसका मूल कारण क्या है? इस प्रकार यूनान के विचारक जगत के मूल कारण के सम्बन्ध में अपने मन में जो जिज्ञासा रखते थे, उस जिज्ञासा का परिणाम ही दर्शन-शास्त्र की उत्पत्ति का मूल कारण बना। भारत के ऋषि भी जगत को देख करके यही विचार करते थे, कि यह क्या है? कहाँ से आया है? ऋग्वेद में इस प्रकार के प्रश्न और उनका समाधान देखने में आता है। भारतीय ऋषियों ने कल्पना की, कि यह जगत जो विचित्र और विविध प्रकार का है, उसका मूल कारण सत् है, अथवा असत् है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर भावनाओं का

लेश्याओं के रूप में चित्रण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्तर्-भावनाओं का :

लेश्याओं के रूप में चित्रण

प्राणि-मात्र के जीवन में भाव एवं भावना की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति है। मानवीय-जगत् में तो भाव की सुस्थिति और दुःस्थिति का काफी विश्लेषण हुआ है। कौन व्यक्ति कैसा है? उसका अतीत, वर्तमान एवं भविष्य कैसा हुआ था, हो रहा है या होगा—यह सब तौलने की तुला भावना की तुला ही है। इसी सम्बन्ध में यह प्राचीन सदुक्ति काल के चिरंतन प्रवाह में प्रवाहित होती आई है और होती रहेगी—

"यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी।"

—जिसकी अच्छी-बुरी जैसी भावना होती है, उसी के अनुरूप उसकी प्रतिफल के रूप में सिद्धि अर्थात् निष्पत्ति होती है।

लोक-जगत् में ही नहीं, धार्मिक-जगत् में भी भावना की ही महत्ता है। बाहर में व्यक्ति धार्मिक क्रिया-काण्डों के परिपालन में कितना ही उच्च एवं उग्र क्यों न रहा हो, किन्तु उस क्रिया-काण्ड का यथार्थ मूल्यांकन उसकी आन्तरिक भावना पर से ही निर्धारित होता है। पवित्र भावना से की हुई साधारण-सी धार्मिक-क्रिया भी अधिक फलवती सिद्ध होती है और कभी दुर्भावना से की हुई उग्र-से-उग्रतर एवं उच्च-से-उच्चतर रूप में दिखाई देने वाली धार्मिक क्रियाएँ भी निष्फल हो जाती हैं। निष्फल ही नहीं, अपितु कभी-कभी पाप-बन्ध का हेतु भी बन जाती हैं। आचार्य सिद्धसेन ने इसी विचार को लक्ष्य में रखकर भगवद्-भक्ति के सम्बन्ध में कहा है—

"आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव ! दुःख-पात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव-शून्याः ॥"

—हे लोक-बन्धु भगवन् ! पूर्व जन्मों में सम्भवतः मैंने अनेक बार आपका पवित्र नाम भी सुना है, पूजा-अर्चना भी की है, किन्तु निश्चित है—मैंने शुद्ध भक्ति-भावना के साथ अन्तर्मन में कुछ नहीं धारण किया, अर्थात् यह सब दिखावा ही रहा, शुद्ध हृदय से कुछ भी नहीं किया गया। यही कारण है, कि मैं अब भी दुःख का पात्र हूँ, पीड़ाएँ भोग रहा हूँ। क्योंकि भाव-शून्य क्रियाएँ कदापि अच्छा फल नहीं देती हैं।

महान् दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन का उक्त वचन प्रमाणित करता है—हमारे उत्थान एवं पतन का मूल कारण कर्ता का भाव होता है। बाह्य क्रियाएँ एवं वेश आदि कुछ अर्थ नहीं रखते हैं। भारत के क्रान्त-द्रष्टा आचार्यों एवं महर्षियों का निम्नोक्त कथन सर्वतो भाव से अप्रतिहत है—

"न लिंगं धर्म-कारणम्।"

भारत के तत्त्व-द्रष्टा ऋषि अन्तर्जगत् के द्रष्टा हैं। अतः वे भाव को, भावना को, विचार को, चिन्तन को, उद्देश्य को, सदा काल से महत्त्व देते आए हैं। वे मुक्त दृष्टि से सत्य को देखते हैं और उसका मुक्त-वाणी से उद्घोष करते हैं—सावधान रहो, जागृत रहो, अपने विचारों को हमेशा पवित्र रखो, उन्हें किसी भी काल में एवं किसी भी रूप में दूषित न होने दो। तुम्हें यदि पतित धरातल पर से ऊपर उठना है, पवित्रता के उच्च शिखरों को स्पर्श करना है, तो तुम्हें सदा अपने भावों का परिमार्जन करते रहना चाहिए। प्रातः एवं सायंकाल के रूप में प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय में किसी न किसी रूप में आत्मालोचन की एक साधना होती है, जिसमें स्वयं का, स्वयं के अच्छे-बुरे मन, वचन और कर्म का निरीक्षण किया जाता है, कि वह विकार-ग्रस्त तो नहीं है। यदि विकार-ग्रस्त है, तो क्यों है ? किस भूल के कारण वह रोगी हुआ है ? उसे किस प्रकार शुद्ध किया जाए ? कौन-सी आध्यात्मिक चिकित्सा-पद्धति अपनाई जाए। भूल से या अहंकार आदि के कारण, जो कुछ बुरा हुआ है, उसके लिए सच्चे भाव से पश्चात्ताप किया जाता है। जैन-परम्परा में इसी क्रिया को प्रतिक्रमण के नाम से अभिहित किया गया है।

भाव, अन्तश्चेतना की एक तरंग है। वह कभी अच्छे रूप में उठती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और कभी बुरे रूप में भी। इसके लिए जैन-परम्परा में लेश्या शब्द का प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग पाप-पुण्य रूप अच्छे-बुरे भावों तक चलता है। उपचार-दृष्टि से कुछ और आगे भी, किन्तु वह उपचार है। वीतराग निर्विकार चेतन मूलतः लेश्या मुक्त होता है। यह इसलिए कि लेश्या का मूल अर्थ श्लेष है अर्थात् लिप्तता—

"लिश्यते प्राणी कर्मणा यया सा लेश्या।" —स्थानांग टीका

अच्छे विचार, शुभ कर्म अर्थात् पुण्य-कर्म का आत्मा के साथ में श्लेष करते हैं और बुरे विचार, अशुभ कर्म अर्थात् पाप-कर्म का आत्मा के साथ में श्लेष करते हैं। और जब भाव अच्छे-बुरे अर्थात् पाप-पुण्य दोनों ही से परे हो जाते हैं, तब वह लेश्या-मुक्त अर्थात् निर्लिप्त हो जाता है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए आचार्य सिद्धसेन कहते हैं—

"न पुण्यं न पापं, न यस्याऽस्ति बन्धः।
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः॥"

भारत के धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन-क्षेत्र में प्रायः सर्वत्र भाव का वर्णन किया गया है। किन्तु जैन-परम्परा में लेश्या के रूप में भावों का जो विस्तार के साथ विशद रूप से वर्णन समुपलब्ध है, वह अद्भुत है। प्राचीन आगम-साहित्य एवं उत्तरकालीन प्राकृत-संस्कृत साहित्य लेश्याओं के वर्णनों से आप्लावित है। हम यहाँ अधिक विस्तार में तो नहीं जाएँगे, किन्तु संक्षेप में लेश्याओं के स्वरूप आदि का वर्णन उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे। यह संक्षिप्त वर्णन भी जिज्ञासु पाठकों को, अध्येताओं एवं विचारकों को जीवन-निर्माण की एक दृष्टि दे सकेगा। जीवन-पथ की इधर-उधर बिखरी हुई पद्धतियों को एक शुद्ध लक्ष्योन्मुख पद्धति देगा। और, यह पद्धति अर्थात् दिशा-निर्देशन जीवन को अशुद्ध दशा में से शुद्ध दशा में परिवर्तित करेगा। क्योंकि दिशा के आधार पर ही दशा का निर्माण होता —

"यादृशी दिशा, तादृशी दशा"

व्यक्ति के अन्तर्-जीवन के भाव सागर में उठने वाली तरंगों की कोई निश्चित सीमा नहीं है। भावों के निम्नोन्नत उतार-चढ़ाव एवं शुभाशुभत्व की परिगणना किसी महान् सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी के ही असीम ज्ञान में अंकित हो सकती है। साधारणतः भला उन्हें कौन गिन सकता है। एक दिन के उतार-चढ़ावों की संख्या भी आंकड़ों में नहीं नापी जा सकती है। तथापि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महातिमहा ज्ञानियों द्वारा जिज्ञासु साधकों को परिबोध देने की दृष्टि से उनकी समान जातीयता के रूप में परिगणना की है। और, उक्त परिगणना में उन लेश्या शब्द वाच्य भावों की संख्या संक्षेपतः छह है—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल। स्वरूप निर्देशन की दृष्टि से उत्तराध्ययन सूत्र आदि में जो कुछ निर्देशन किया गया है, उसे ही हम यहाँ और भी अधिक संक्षेप शब्दों में अंकित कर रहे हैं—

१. कृष्ण-लेश्या :

यह सर्वाधिक अधम लेश्या है। इसमें भाव अत्यन्त क्रूर एवं कठोर होते हैं। इस लेश्या की प्रवृत्ति वाला व्यक्ति हिंसा, असत्य, चौर्य, व्यभिचार एवं परिग्रह रूप पाँच आस्रवों में हर्षोन्मत्त होता हुआ मर्यादाहीन कुप्रवृत्ति करता है। उसका मन, वचन और काय सर्वथा गुप्तिहीन अर्थात् नियन्त्रण रहित होता है। वह किसी भी प्राणी के प्रति किसी भी तरह की संयममूलक दया से रहित होकर अन्धाधुन्ध आरम्भ-समारम्भ की दुष्क्रिया करता है। यह व्यक्ति अत्यन्त क्षुद्र मनोवृत्ति का होता है। किसी भी कार्य को करते समय उसके गुणों और दोषों का कुछ भी विचार नहीं रखता। न इसे इस लोक का कोई भय होता है और न परलोक का। मूलतः उसकी दृष्टि नास्तिकता की दृष्टि होती है। जैसे भी हो, उसका एकमात्र ध्येय अपना स्वार्थ सिद्ध करना ही होता है। उसका दूसरे का हिताहित के प्रति कुछ भी लक्ष्य नहीं होता। वह भोग-विलास की दृष्टि से स्वच्छन्द इन्द्रियों का एक प्रकार से क्रीतदास होता है। कहाँ तक गिनाएँ इसका नाम ही कृष्ण लेश्या है। अभद्र, काली एवं कलुषित दुर्वृत्ति। भारतीय-चिन्तन में क्रूर वृत्ति वाले हिंसाप्रिय राक्षसों, पिशाचों एवं भूतों को इसीलिए अत्यन्त घृणित एवं भयभीत करने वाले कृष्ण-काय के रूप में चित्रित किया गया है। मनुष्य भी यदि ऐसा ही क्रूर कर्मी है, तो वह भी मनुष्य के आकार में भूतल पर राक्षस ही है। महर्षि व्यास इसी दृष्टि से कहते हैं—

"प्राणिनो येवमन्यन्ते तेव भवन्तीह राक्षसाः।"

—जो प्राणियों की यों ही निष्कारण अवमानना करते हैं, वे राक्षस होते हैं।

२. नील लेश्या :

उक्त लेश्या वाला व्यक्ति पूर्व कृष्ण लेश्या से कुछ अंश में अभद्र कम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है। यह व्यक्ति ईर्ष्यालु होता है। दूसरों का किसी भी प्रकार का महत्त्व इसे सह्य नहीं होता। इसका हृदय प्रायः अमर्ष से आपूरित रहता है। निष्काम तप एवं सम्यक्-ज्ञान से शून्य होता है। साथ ही यह छल-कपट, निर्लज्जता, आसक्ति, प्रद्वेष, मूढ़ता आदि दोषों का केन्द्र होता है। वह अपने ही व्यक्तिगत सुखों में लिप्त, अधिकाधिक सुखोपभोग की आकांक्षा वाला स्वार्थ सिद्धि हेतु दुःसाहसी हो जाता है।

३. कापोत लेश्या :

उक्त लेश्या वाले प्राणी की वृत्ति कबूतर के रंग के समान रक्त-कृष्ण वर्ण रूप एक विचित्र ही रूप ले लेती है। यह व्यक्ति विचारने, बोलने और कर्म करने में एक रूप न होकर वक्र होता है। अपने दोषों को छिपाये रखता है और दूसरों के दोषों को उद्घाटित करता फिरता है। धर्म एवं सदाचार की बुद्धि से रहित होता है। प्रायः अनार्य कर्मों में ही अभिरुचि रखता है।

धर्म-शास्त्रों में उक्त तीनों लेश्याओं को अधर्म अर्थात् पाप की संज्ञा दी है। यह ठीक है, कि वर्णन में पाप-वृत्ति के रूप में एक रूपता जैसी प्रतीति होती है, तथापि उत्तरोत्तर कुछ-न-कुछ न्यूनता अवश्य होती है। किन्तु भावों के मालिन्य एवं प्रदूषण के कारण ये सब भाव पाप की छाया से ही आवृत्त हैं। अतः इन सबकी सामान्य रूप से अधर्म अर्थात् पापाचरण में ही परिगणना की गई है। गहराई से देखा जाए, तो ये सब अधर्म लेश्याएं ही हैं। इनमें धर्म कहीं भी परिलक्षित नहीं होता है।

अग्रिम तेजो लेश्या आदि धर्म लेश्याएँ हैं। ये उत्तरोत्तर विशुद्ध होती गई हैं धर्म की दिशा में अर्थात् पवित्रता की दिशा में। अतः शास्त्र-कार इनको धर्म की संज्ञा से अभिहित करते हैं। इनमें अंशतः अधर्म का भी यथाप्रसंग कुछ भाव रहता है, फिर भी वह इतना अल्प-अल्पतर होता है, कि उसकी यहाँ परिगणना नहीं की गई है। अतः इनको मुख्यत्वेन धर्म के पवित्र नाम से एक ही रूप में संबोधित कर दिया गया है।

४. तेजो लेश्या :

यह लेश्या भाव विशुद्धि का एक प्रकार से प्रथम चरण है। उक्त लेश्या वाला व्यक्ति जाति-कुल आदि के अभिमान से प्रायः मुक्त रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन, वचन और कर्म से भी विनम्र, विनयशील एवं शालीन होता है। व्यर्थ की चपलता, हँसी-मजाक एवं शठता से अलग रहता है। धर्म-परम्परा तथा सामाजिक-परम्परा आदि की एवं गुरुजन, वृद्ध एवं अपने से महत्तर व्यक्तियों का यथोचित आदर-सत्कार करता है। स्वाध्याय, ध्यान, शुद्ध तप, सेवा आदि धर्म कार्यों में आन्तरिक सहज-भाव से अभिरुचि रखता है। अपनी कृत जन-मंगल रूप निर्मल प्रतिज्ञाओं को दृढ़ता के साथ निर्वहन करने हेतु यत्नशील रहता है।

यह तेजो लेश्या इसलिए तेजो लेश्या है, कि इसमें सदाचार का तेज प्रज्वलित हो जाता है। इसी अर्थ में शास्त्रकारों ने इसके रूप-रंग का वर्णन करते हुए इसकी उदयमान सूर्य बिम्ब के स्वर्णिम रक्तप्रभा आदि के रूपों से तुलना की है।

५. पद्म लेश्या :

उक्त लेश्या में क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों की तीव्रता और अधिक मन्द हो जाती है। उसका चित्त विपरीत स्थितियों में भी अधिकतर शान्त बना रहता है। अपने को अशुभ प्रवृत्तियों से मुक्त रखते हुए योग एवं उपधान आदि की विशिष्ट धर्म साधना में यथास्थिति शुद्ध-भाव से संलग्न रहता है। वह विचार पूर्वक मित-भाषी और यथाशक्ति जीतेन्द्रिय बन जाता है।

पद्म का अर्थ कमल होता है। अतः पद्म लेश्या के साधक के भाव कमल के समान स्वच्छ स्वरूप एवं सुरभित होते हैं।

६. शुक्ल लेश्या :

उक्त लेश्या में भावों की विशुद्धता शंख, कुन्दपुष्प, दुग्ध-धारा आदि के समान शुक्ल एवं शुक्लतर होती है। यह शुक्लता अर्थात् श्वेतता निर्विकार भावना को द्योतित करती है। शुक्ल लेश्या में आर्त्त-रौद्र-ध्यान से पराङ्मुख होकर साधक धर्म-ध्यान एवं अंशतः शुक्ल-ध्यान में सम्यक्-भाव से संलीन रहता है।

पूर्व कथित कृष्ण आदि तीन अधर्म लेश्याओं के दुर्भावों का तथा तदुत्तर तेजो लेश्या आदि तीन धर्म लेश्याओं के शुद्ध भावों का जो वर्णन किया गया है, वह संक्षेप में स्वरूप जिज्ञासा की पूर्ति के हेतु एक निर्देशन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्र है। उक्त वर्णन पर से जिज्ञासु व्यक्ति अपने को समझ सकता है, कि वह लेश्याओं की किस भूमिका पर अवस्थित है। उसका अन्तर्-जीवन अधः पतन की दिशा में नीचे गिर रहा है अथवा उत्थान की दिशा में ऊपर उठ रहा है।

उत्तराध्ययन सूत्र में गन्ध, रस और स्पर्श के रूप में भी लेश्याओं के स्वरूप का उद्‌बोधन किया गया है। अधर्म लेश्याओं का दुर्गन्ध के रूप में और धर्म लेश्याओं का सुगन्ध के रूप में वर्णन है। अधर्म लेश्याओं का रस कटु और धर्म-लेश्याओं का मधुर-रस बताया गया है। स्पर्श के सम्बन्ध में बतलाया गया है कि अधर्म लेश्याओं का स्पर्श कठोर एवं खुरदरा है तथा धर्म लेश्याओं का स्पर्श कोमल एवं मृदु है।

अधर्म लेश्याओं में उत्तरोत्तर दुर्भावों की मन्दता होती जाती है। इसके विपरीत तेजो लेश्या आदि धर्म लेश्याओं में विशुद्ध भावों की पवित्रता उत्तरोत्तर तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होती जाती है अर्थात् उच्च, उच्चतर और उच्चतम होती जाती है।

लेश्याओं के स्वरूप बोध के लिए जैन-वाङ्मय में दृष्टान्तों का भी आधार लिया गया है। मुख्य उदाहरण जाम्बू वृक्ष फलभक्षो अर्थात् जामुन के फल खाने वाले छह मित्रों तथा ग्राम दाहक अर्थात् ग्राम नाशक छह व्यक्तियों के उदाहरण दिए गए हैं।

प्रथम उदाहरण इस प्रकार है—एक ग्राम के निवासी परस्पर प्रगाढ़ स्नेही छह मित्र एक बार वन-विहार के लिए वन में गए। इधर-उधर भ्रमण करते रहे। समय पर भूख लगी, तो उन्होंने फलों से लदा हुआ एक विशाल जामुन का वृक्ष देखा। उसे देखकर उनके मन की प्रसन्नता का पार न रहा। वे मित्र तो अवश्य थे, किन्तु उनकी भावों की भूमिकाएँ विभिन्न स्थितियों की थी।

१. एक मित्र ने अविवेक की अत्यन्त कठोर एवं क्रूर मुद्रा में अपनी तीक्ष्ण कुठार (कुल्हाड़ी) दिखाते हुए कहा—सौभाग्य से यह कुठार भी मैं अपने साथ ले आया हूँ। इसके द्वारा वृक्ष को जड़ से काट देते हैं। तदन्तर चारों ओर घूमते हुए यथेष्ट फल खाएँगे। व्यर्थ ही इतने ऊंचे वृक्ष पर चढ़ने-उतरने का कौन कष्ट करे। मूलोच्छेदन के द्वारा फल खाने में सुविधा भी रहेगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. दूसरे मित्र ने कहा—वृक्ष का मूलोच्छेदन करके उसे हमेशा के लिए धराशायी बनाने में क्या लाभ है ? भविष्य में फिर कभी किसी को फल कैसे मिलेंगे ? अतः बड़ी-बड़ी शाखाएँ ही काट लेनी चाहिए। उन्हीं के फलों से हमारा काम बन जाएगा।

३. तीसरे मित्र ने कहा—बड़ी शाखाओं के काटने से भी क्या लाभ है ? फल तो छोटी-छोटी उपशाखाओं (टहनियों) में लगे हुए हैं। अतः उन्हें ही काट लेना ठीक है।

४. चतुर्थ मित्र कुछ अधिक विवेकशील था। उसने कहा—उपशाखाओं को काटना भी व्यर्थ है। हमको तो फल खाने हैं, शाखाएँ नहीं। अतः फलों के गुच्छक ही तोड़ लेने चाहिए।

५. पाँचवें मित्र ने चिन्तन को आगे बढ़ाते हुए कहा—गुच्छों को तोड़ने से भी कोई लाभ नहीं है। उनमें बहुत से अभी कच्चे फल हैं। वे भविष्य में पकेंगे, फलतः किसी और की भूख को मिटाएँगे। अतः जो फल पक गए हैं, केवल वे ही तोड़ लेने चाहिए।

६. छट्ठा मित्र सर्वाधिक विवेक-निष्ठ था। उसने जो कहा, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसके कथन में आलस्य की गन्ध नहीं है। उसमें यथोचित विवेक का सौरभ है। उसने विनम्र शालीनता के साथ कहा—प्रिय मित्रो ! क्यों काटने-तोड़ने आदि की झंझट में पड़ रहे हो। देखो, हवा के झोंके के साथ पूर्ण रूप से पके हुए जामुन पहले से ही भूमि पर गिरे हुए हैं और अब भी गिर रहे हैं। अतः इन्हीं के द्वारा हमारी भूख की समस्या का अनायास ही हल हो सकता है।

उक्त उदाहरण पर से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य भावों के पतन एवं उत्थान में अपने विचारों को क्रियान्वित करने में किस प्रकार की शुभाशुभ भावनाएँ रखता है।

दूसरा उदाहरण ग्राम-दाहकों तथा ग्राम-नाशकों का है। छह मित्र व्यक्ति एक ग्राम के भयंकर शत्रु थे। वे ग्राम को लूटना भी चाहते थे और साथ ही उसे मूलतः नष्ट कर देने का विचार भी रखते थे। एक बार अर्धरात्रि के समय ग्राम के बाहर किसी उजड़े हुए उद्यान में इकट्ठे हुए और ग्राम-नाश की योजना बनाने लगे।

एक ने बड़ी क्रूरता के साथ कहा—ग्राम के चारों ओर जो कंटीली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

झाड़ियों को काटकर सुरक्षा की बाड़ लगा रखी है, उसमें चारों ओर से आग लगा दें, जो भी स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध-युवा आदि बाहर निकलने का प्रयत्न करें, उन सबको तलवार एवं भालों के द्वारा मार दिया जाए। यहाँ तक कि पशुओं को भी सुरक्षित रूप से बाहर नहीं निकलने दिया जाए।

१. उक्त योजना पर विचार हो ही रहा था कि एक मित्र ने बड़े हर्ष से कहा—हाँ यही ठीक है। हमें ऐसा ही करना चाहिए।

२. दूसरे मित्र ने कहा—विचारे मूक एवं निरपराध पशुओं को मारने से क्या लाभ है? उन्होंने हमारा क्या बिगाड़ा है? हमें तो केवल मनुष्यों से ही बदला लेना है।

३. तीसरे ने कहा—स्त्रियों की हत्या करना महापाप है। अतः मेरे विचार में पुरुषों को मारना ही ठीक है।

४. चतुर्थ व्यक्ति ने कहा—बाल-वृद्ध आदि निश्शस्त्र व्यक्तियों को मारना भी पाप है। अतः सशस्त्र एवं सशक्त व्यक्तियों को ही मारना उचित है।

५. पाँचवें व्यक्ति ने कहा—शस्त्र-धारण करने से क्या होता है? शस्त्रधारी व्यक्ति भी यदि भयभीत होकर भाग रहा हो, तो उसे मारना भी महापाप है। अतः शस्त्र लेकर जो हमसे संघर्ष करने को आए, उसे ही मारना उचित है।

६. छट्ठा व्यक्ति जरा अधिक विवेकशील था, उसने कहा—न हमें गाँव को जलाने की जरूरत है, न किसी को मारने की। गाँव के सब लोग सोए पड़े हैं, अतः चुपचाप जा कर उनके धन का अपहरण कर लें। धन भी मनुष्य की एक प्राण शक्ति है। धन का नाश तो प्राण नाश से भी अधिक भयंकर है। अतः समग्र रूप से धन का अपहरण कर लें और अपनी सुख-सुविधा के लिए यथोचित सामग्री जुटा लें। इस प्रकार चौर्य-कर्म करके भयंकर हत्याकाण्ड के पाप से तो हम बच जाएँगे।

उक्त उदाहरण का रूप भी पूर्वोक्त उदाहरण के समान ही है। इस उदाहरण में भी किस प्रकार भावों की क्रूरता कम होती जाती है और कोमलता बढ़ती जाती है, यह एक गम्भीरता के साथ विचारने जैसा रूपक है।

उक्त उदाहरणों पर से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य के चिन्तन में से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जितनी क्रूरता कम होती जाएगी, और अधिकाधिक कोमलता बढ़ती जाएगी वह व्यक्ति उतना ही अधिक शुद्ध मानवीय गुणों से भावित होता हुआ मानवता की उत्तमोत्तम स्थिति को प्राप्त होता जाएगा।

जैन-वाङ्मय में लेश्याओं का विचार मानव के भावों की पवित्र एवं अपवित्र स्थिति का हमारे समक्ष एक स्पष्ट चित्र उपस्थित करता है। मनुष्य को क्या बनना है और क्या होना है, उसके लिये अपेक्षित है कि वह दुर्भावों से सम्बन्धित अधम लेश्याओं से अपने को मुक्त रखने के लिए निरंतर यत्नशील रहे। साथ ही, अपने सद्गुणों के विकास के हेतु उत्तम लेश्या के भावों को निरन्तर अभिवृद्धि करता रहे। मानवता इसी में है कि अप्रशस्त एवं दूषित विचार-पथ का परित्याग करे और प्रशस्त एवं स्व-पर कल्याणकारी भावों के सत्पथ का अनुसरण करे।

लेश्याओं का उपर्युक्त वर्णन अवकाशाभाव के कारण एवं साधारण जिज्ञासुओं की दृष्टि से संक्षेप में किया गया है। विस्तृत जानने की जिज्ञासा रखने वाले महानुभावों को यथावकाश भगवती, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन सूत्र, षट् खण्डागम, धवला, गोम्मटसार एवं कर्म-ग्रन्थ आदि का अध्ययन करना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट

पारिभाषिक टिप्पण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. प्रमाण

प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होती है। बिना प्रमाण के वस्तु का परिबोध नहीं हो सकता। प्रमाण का अर्थ है—वस्तु का यथार्थबोध। जैन दर्शन में प्रमाण की व्याख्या दो पद्धति से की है—आगम पद्धति तथा तर्क पद्धति। ज्ञान-मीमांसा और प्रमाण-मीमांसा। आगम-युग में भी तर्क पद्धति का प्रारम्भ हो चुका था।

ज्ञान-मीमांसा :

आगमों में ज्ञान के पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवल। प्रथम दो ज्ञान इन्द्रिय और मन के सहयोग से होने के कारण परोक्ष हैं। अगले तीन ज्ञान बिना इन्द्रिय एवं मन के सहयोग के होने से प्रत्यक्ष हैं। अतः प्रमाण दो प्रकार का हुआ प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। सम्यग्ज्ञान ही तो प्रमाण है।

प्रमाण-मीमांसा :

यहाँ प्रमाण का अर्थ है—स्व-पर-व्यवसायि ज्ञान। जो ज्ञान अपना स्वयं का तथा पर का अपने से भिन्न का निश्चय करता है, वह प्रमाण कहलाता है। यह प्रदीपवत् अपने को और पर को प्रकाशित करता है। प्रमाण के दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। अक्ष शब्द के दो अर्थ हैं—अक्ष अर्थात् इन्द्रिय एवं अक्ष अर्थात् आत्मा। जब अक्ष का अर्थ इन्द्रिय होता है, तब प्रत्यक्ष का अर्थ होगा—इन्द्रिय मनोजन्य ज्ञान। यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। जब अक्ष का अर्थ आत्मा होता है, तब प्रत्यक्ष का अर्थ होगा—सीधा आत्म-समुत्थ ज्ञान। वह तीन प्रकार का है—अवधि, मनः पर्याय और केवल। तीनों को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। उसके दो भेद होते हैं- सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष। सकल है, केवल ज्ञान और विकल है—अवधि एवं मनः पर्याय। अतः तर्क शास्त्र में प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—सांव्यवहारिक और पारमार्थिक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तर्क-शास्त्र में प्रमाण का दूसरा भेद है—परोक्ष। अस्पष्ट अथवा अविशद ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहा गया है। अस्पष्टता तथा अविशदता क्या है ? जिस ज्ञान में, कोई दूसरा ज्ञान निमित्त हो, वह अस्पष्ट तथा अविशद होता है। स्मृति में पूर्व अनुभव निमित है, अनुमान में व्याप्ति स्मरण निमित्त है। अतः ये परोक्ष प्रमाण हैं। क्योंकि ये अस्पष्ट हैं।

परोक्ष प्रमाण :

जैन तर्क-शास्त्र में परोक्ष प्रमाण के पांच भेद हैं—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। अतीत का स्मरण, अतीत तथा वर्तमान का प्रत्यभिज्ञान, व्याप्ति में सहयोगी तर्क, साधन से साध्य का ज्ञान अनुमान और आप्त-पुरुष के वचन से होने वाला शास्त्र-ज्ञान।

२. प्रमाण और नय

प्रमाण और नय, दोनों ज्ञान रूप हैं। दोनों परस्पर अभिन्न हैं, या भिन्न है ? यदि दोनों एक ही अर्थ के वाचक हैं, तो प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—चार प्रकार का होता है, और नय सात प्रकार का होता है। फिर दोनों एक-दूसरे के पर्याय वाचक कैसे हो सकते हैं ? इसका समाधान स्याद्वाद के द्वारा हो सकता है। तीसरे भंग में कहा गया है, कि कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न। जैसे कि शाखा-प्रशाखाएँ वृक्ष से भिन्न भी हैं, और अभिन्न भी। शाखाओं को वृक्ष नहीं कह सकते हैं, और न अवृक्ष। अतः भिन्न-भिन्न हैं।

प्रमाण यदि समुद्र है, तो नय तरंग है। प्रमाण यदि सूर्य है, तो नय रश्मि-जाल है। प्रमाण का सम्बन्ध पाँच प्रकार के ज्ञान से है, जबकि नय का सम्बन्ध केवल श्रुत ज्ञान से है। ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, और नय श्रुत ज्ञान रूप प्रमाण का अंश विशेष है। नय का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा अनन्त धर्मों में से किसी विवक्षित एक धर्म का निश्चय होता है। नय न तो प्रमाण है, और न अप्रमाण। प्रमाण का एक अंश है। जैसे कि तरंग न समुद्र है, न असमुद्र है। समुद्र का एक अंश है। अतः प्रमाण और नय, भिन्न भी हैं, और अभिन्न भी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. निक्षेप

भाषा के माध्यम से मनुष्य अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है। भाषा अभिव्यक्ति का अनन्य साधन हैं। भाषा शब्दों का तथा वाक्यों का समुदाय है। मनुष्य का समग्र व्यवहार भाषा के द्वारा चलता है। भाषा का प्रयोग करने के लिए शब्दों के यथार्थ अर्थ का ज्ञान परम आवश्यक है। शब्दों का समुचित प्रयोग भी एक सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त को जैन दर्शन में निक्षेपवाद कहा गया है। निक्षेप का दूसरा नाम न्यास भी है। शब्दों का अर्थों में और अर्थों का शब्दों में आरोप करना, न्यास अथवा निक्षेप कहलाता है।

शब्दों के भेद :

व्याकरण शास्त्र में शब्दों के चार भेद है—नाम, आख्यात, उपसर्ग और नियात। घट-पट आदि नाम शब्द हैं। गच्छति, पठति आदि आख्यात क्रिया अथवा धातु शब्द हैं। प्र, परा, उप आदि उपसर्ग शब्द हैं। यथा, तथा, एवं आदि नियात शब्द हैं। इन चार प्रकार के शब्दों में निक्षेप का सम्बन्ध केवल नाम शब्दों से है, अन्य तीन प्रकार के शब्दों से नहीं। क्योंकि शेष तीन शब्द क्रिया, उपसर्ग और नियात वस्तु-वाचक नहीं होते। निक्षेप हमें बतलाता है, कि नाम शब्द के कम से कम चार अर्थ अवश्य होंगे। अतः तत्त्व को समझने के लिए निक्षेप आवश्यक है।

निक्षेप की परिभाषा :

निक्षेप सिद्धान्त अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण करके प्रस्तुत अर्थ के प्रयोग की दिशा को बतलाता है। जैसे किसी ने कहा—राजा तो मेरे हृदय में है। यहाँ राजा शब्द का अर्थ राजा का ज्ञान है, क्योंकि देहवान राजा का किसी के हृदय में रहना, असम्भव है। उक्त वाक्य में, राजा का ज्ञान, यह अर्थ प्रस्तुत है, न कि स्वयं राजा। निक्षेप अप्रासंगिक अर्थ का निराकरण कर प्रासगिक अर्थ का निरूपण करता है।

निक्षेप के भेद :

निक्षेप के चार भेद हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इन का उपयोग केवल शास्त्रों में ही नहीं, व्यवहार में होता है। निक्षेप के बिना लोक व्यवहार भी नहीं चल सकता। शास्त्रों का मर्म भी निक्षेप के बिना समझा नहीं जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाम निक्षेप :

लोक-व्यवहार चलाने के लिए किसी वस्तु का कोई नाम रख देना, नाम निक्षेप होता है। जैसे किसी व्यक्ति का नाम, महावीर रख देना। यहाँ महावीर शब्द का जो अर्थ है, वह बिल्कुल भी अपेक्षित नहीं है। नाम निक्षेप में, यथा नाम जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। मनुष्य इच्छानुसार कुछ भी नाम रख सकता है।

स्थापना निक्षेप :

किसी वस्तु की अन्य वस्तु में यह कल्पना करना, कि 'यह वह है' स्थापना निक्षेप है। इसके दो भेद हैं –तदाकार स्थापना और अतदाकार स्थापना। मूर्ति तथा चित्र आदि में किसी की स्थापना करना, तदाकार स्थापना है। शतरंज के मोहरे आदि गज, अश्व, बजीर एवं बादशाह आदि की कल्पना, अतदाकार स्थापना है। इसमें आरोप किया जाता है।

द्रव्य निक्षेप :

भविष्य में होने वाली पर्याय वाला पदार्थ द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। उसके दो भेद हैं—आगम द्रव्य निक्षेप और नो आगम द्रव्य निक्षेप। तद् विषयक शास्त्र का जानने वाला, अनुपयुक्त आत्मा आगम द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। जैसे राजा के ज्ञान वाला अनुपयुक्त अर्थात् उस समय राजा के ज्ञान के उपयोग रहित, आत्मा आगम द्रव्य राजा है। दूसरे नो आगम द्रव्य निक्षेप के तीन भेद हैं—ज्ञान-शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। पहले भेद से राजा के जानने वाले का शरीर राजा कहलाता है। ज्ञाता और शरीर का एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से ज्ञाता का त्रिकाल गोचर शरीर ही इसका विषय है। कार्य का उपादान कारण ही भावि नो आगम द्रव्य कहलाता है। इस भेद के अनुसार युवराज भी राजा कहा जा सकता है। क्योंकि वह भावी राजा का उपादान कारण है। पदार्थ के निमित्त कारण उसके आधार आदि अन्य सभी वस्तुएँ तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य कहलाती हैं। जैसे राजा के शरीर आदि। द्रव्य निक्षेप के इस भेद के अनुसार न केवल राजा का शरीर, अपितु राजा की माता, पिता तथा उसके परिवार के अन्य जन भी राजा कहला सकते हैं। यह नो आगम द्रव्य निक्षेप है।

भाव निक्षेप :

वर्तमान पर्याय सहित द्रव्य को भाव निक्षेप कहते हैं। उसके दो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भेद हैं—एक आगम भाव निक्षेप और दूसरा नो आगम भाव निक्षेप। तद् वस्तु विषय शास्त्र को जानने वाला वर्तमान में उपयोग सहित आत्मा आगम भाव निक्षेप है। जैसे राजा के ज्ञान से संयुक्त उपयोग सहित मनुष्य भाव आगम राजा है। वर्तमान में उस पर्याय सहित वस्तु को नो आगम भाव निक्षेप कहते हैं। जैसे जो वस्तुतः राजा है, उसे राजा कहना। नो आगम निक्षेप ही वास्तविक वस्तु को कहता है। आग को आग, पानी को पानी, निक्षेप के इसी भेद से कहे जाते हैं। भाव निक्षेप का सम्बन्ध केवल वर्तमान पर्याय से ही है। अतः इस निक्षेप में द्रव्य निक्षेप की भाँति ज्ञायक शरीर आदि भेद नहीं होते। भाव निक्षेप वर्तमान क्रिया परिणत वस्तु को ही ग्रहण करने वाला होता है।

नय और निक्षेप :

नय और निक्षेप में विषय और विषयि-भाव सम्बन्ध है। नय ज्ञानात्मक है, और निक्षेप ज्ञेयात्मक। निक्षेप को जानने वाला नय है। शब्द-अर्थ में जो वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, उसके स्थापन की क्रिया का नाम, निक्षेप है, और वह नय का विषय है तथा नय उसका विषयी होता है।

प्रथम के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय और अन्तिम निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है। बाल, युवा एवं मनुष्य आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं वाले मनुष्य में नाम का विच्छेद नहीं देखा जाता। अतः नाम निक्षेप अन्वयी है, और यही कारण है, कि वह द्रव्यार्थिक नय का विषय है। अन्वयी होने के कारण स्थापना निक्षेप भी द्रव्यार्थिक नय का विषय मानने में तर्क की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार का अन्वयित्व, भाव निक्षेप में नहीं है। अतः वह पर्यायार्थिक नय का विषय माना गया है।

स्व-पर चतुष्टय :

अनेकान्त और स्याद्वाद को समझने के लिए प्रमाण, नय, निक्षेप और सप्त भंगी की तो आवश्यकता है ही। परन्तु चतुष्टय को समझना भी तो आवश्यक है। स्व की अपेक्षा पर सत् है, और पर की अपेक्षा स्व असत् भी हो सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. कर्म सिद्धान्त

भारत के प्रत्येक दर्शन ने किसी न किसी रूप में आत्मा से भिन्न, विजातीय तत्त्व को स्वीकार किया है, जो आत्मा के विपरीत स्वभाव वाला है, आत्मा के विकास में रुकावट पैदा करता है। आत्मा के विकास को रोकता है, उसे कुछ भी नाम दिया जा सकता है—कर्म कहो, माया समझो, वासना जानो या फिर प्रकृति बोलो। परन्तु उसकी सत्ता अवश्य है।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, बौद्ध और जैन दर्शन के कर्म-विषयक साहित्य में, परिभाषा, भावना और विभाजन में, पर्याप्त समानता रही है। उसका संक्षेप में सार यह है, कि जीव का वर्तमान में जो सुख या दुख है, वह बिना कारण के नहीं है, उसका जो कारण है, वह कर्म कहा जाता है।

जैन परम्परा की विशिष्ट कर्म-विद्या भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व अवश्य स्थिर हो चुकी थी। यह विद्या आग्रायणीय पूर्व तथा कर्म प्रवाद पूर्व के नाम से जैन श्रुत में प्रसिद्ध है। इतिहास की दृष्टि से पूर्व शब्द का अभिप्राय भगवान् महावीर के पहले से चला आने वाला शास्त्र विशेष है। कर्म का सिद्धान्त जैन दर्शन का अपना मूलभूत सिद्धान्त है। उसका विकास भी धीरे-धीरे निरन्तर होता है। संख्याबद्ध ग्रन्थ-राशि आज भी जैन साहित्य में कर्म-विषयक विद्यमान है।

कर्म बन्ध के कारण :

कर्म ग्रन्थों में प्रत्येक कर्म के बन्ध हेतुओं की चर्चा विस्तार से की है। उत्तराध्ययन सूत्र के तेतीसवें अध्ययन में पाँच हेतुओं का उल्लेख है। जैसे दीपक वर्तिका के द्वारा तैल को ग्रहण करके अपनी उष्णता से उसे ज्वाला रूप में परिणत कर देता है, वैसे ही जीव अपने कषाय भाव से पुद्गल परमाणुओं को कर्म रूप में परिणत कर देता है, यही बन्ध कहाता है। आत्मसंबद्ध पुद्गल की कर्म संज्ञा हो जाती है।

बन्ध के चार प्रकार हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। उसके बन्ध हेतु पाँच हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग।

अन्य दर्शनों में भी इस विषय की चर्चा की है, लेकिन वह स्पष्ट नहीं है। दूसरी बात यह है, कि बन्ध शब्द का प्रयोग भी वहाँ पर नहीं है। बन्ध के कारणों की विचारणा भी वैसी नहीं है। न्याय दर्शन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्कार कहता है। सांख्य प्रकृति कहते हैं। वेदान्त माया कहता है। बौद्ध वासना कहता है। अन्य सम्प्रदाय अविद्या तथा अज्ञान कह देते हैं। परन्तु जैन दर्शन में पूरा वर्णन किया है। कर्म, उसका कर्ता, कर्म का फल और जीवन पर उसका प्रभाव—इन सबकी गम्भीर विचारणा जैन दर्शन में उपलब्ध है।

५. आगम प्रमाण विचार

आप्त-वाणी से प्रकट होने वाले अर्थ-ज्ञान को आगम कहा गया है। जैसे कि "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष-मार्गः।" अर्थात् प्रशस्त दर्शन, प्रशस्त ज्ञान और प्रशस्त चारित्र—इन तीनों का सहभाव अर्थात् एकता, मोक्ष का मार्ग अर्थात् उपाय है। "मार्गः" इस एक वचन से सिद्ध होता है, कि तीनों में एक-एक मोक्ष के उपाय नहीं हैं, बल्कि तीनों मिलकर ही मोक्ष के उपाय भूत हैं।

आप्त कौन हो सकता है? आप्त का लक्षण क्या है? आप्त का लक्षण इस प्रकार है—"आप्तः प्रत्यक्ष-प्रमित-सकलार्थत्वे सति परम हितोपदेशकः।" अर्थात् जो प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों को यथार्थ रूप में जानकर, उत्कृष्ट हित का उपदेश देने वाला हो, उसको आप्त कहते हैं। यदि परम हितोपदेशक को ही आप्त कहा जाए, तो श्रुत-केवली में अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि श्रुत-केवली ने आगम के द्वारा समस्त जीव एवं अजीव आदि पदार्थों को यथार्थ रूप में जाना है। अतः कहा गया, कि प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा सकल पदार्थों का ज्ञाता, आप्त होता है, तो सिद्धों में अतिव्याप्ति होगी। क्योंकि सिद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान से सकल पदार्थों के ज्ञाता एवं द्रष्टा हैं। अतः कहा गया, कि परम हितोपदेशक। सिद्ध तो उपदेष्टा नहीं होते हैं। अर्हन् ही उपदेष्टा होते हैं। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा सकल पदार्थों के ज्ञाता एवं द्रष्टा तथा परम हित उपदेशक ही आप्त होते है। यह आप्त का लक्षण दोष-शून्य है।

इस प्रकार के आप्त के वाक्य से उत्पन्न होने वाले अर्थ ज्ञान को आगम कहते हैं। यहाँ पर आगम लक्ष्य है, और आप्त के वाक्य से होने वाला अर्थ ज्ञान इतना लक्षण है। यदि केवल अर्थ ज्ञान को ही आगम का लक्षण माना जाए, तो प्रत्यक्ष आदि में, अतिव्याप्ति आती है, क्योंकि वह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ का ज्ञान तो है, परन्तु आगम नहीं है। क्योंकि आगम को परोक्ष के भेदों में गिना गया है। अतः वाक्य रूप निमित्त से इतना विशेष कहा। वाक्य निमित्त से होने वाले अर्थ-ज्ञान को आगम कहते हैं—"आप्त-वाक्य निबन्धन-अर्थज्ञान आगमः।" यह आगम का लक्षण है।

जिस में राग, द्वेष और मोह न हो, और जो यथार्थ ज्ञाता हो, यथार्थ द्रष्टा हो, तथा जो यथार्थ भाषी हो, वह सर्वज्ञ है, वह केवली है, वह सर्वदर्शी है, वह वीतराग है, और वही जिन एवं अर्हन् भगवान है, उसकी वाणी ही वस्तुतः आगम कही जा सकती है। अतः आप्त के वचन से होने वाले अर्थ ज्ञान को आगम कहा गया। उपचार से वचन भी आगम है।

६. अर्थ तथा पदार्थ

आप्त के लक्षण में कहा गया था, कि आप्त वचन से होने वाले अर्थ ज्ञान को आगम कहते हैं। 'अर्थ ज्ञान' में अर्थ क्या है? अर्थ अर्थात् पदार्थ। पदार्थ किस को कहते हैं? अर्थ क्या है? उत्तर में कहा है—"अर्थः अनेकान्तः।" ज्ञान के विषय को अर्थ कहते हैं। जो अनेकान्त स्वरूप हो, उसको अर्थ कहते है। अर्थ को अभिधेय भी कहते हैं। जिसमें अनेक अन्त, अर्थात् सामान्य, विशेष, पर्याय और गुण रूप धर्म पाए जाए, उसको अनेकान्त कहते हैं। अतः वस्तु एवं अर्थ—अनेक धर्म रूप होता है।

अनेक पदार्थों के सदृश स्वरूप को सामान्य कहते हैं। जैसे घटत्व। गो में गोत्व और अश्व में अश्वत्व आदि सामान्य है। सामान्य के स्वरूप के सम्बन्ध में, नैयायिक यह कहते हैं, कि वह सामान्य व्यक्ति से सर्वथा भिन्न है, नित्य है, एक है और अनेकों में अनुगत है, उनका यह कथन ठीक नहीं है।

इसी प्रकार विशेष भी है, जिसके ग्रहण से यह घट बड़ा है, यह घट छोटा है, आदि विलक्षण ज्ञान होता है। यह भी पदार्थ से भिन्न नहीं है, नैयायिक विशेष को भी भिन्न मानते हैं। जैन दर्शन में सामान्य और विशेष स्वरूपात्मक पदार्थ ही ज्ञान का विषय है। सामान्य का अर्थ है, द्रव्य और विशेष का अर्थ है, पर्याय। द्रव्य और पर्याय दोनों अलग-अलग नहीं रह सकते।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर्याय के दो भेद हैं—अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय। जो भूत और भविष्यत् काल का स्पर्श न करने वाला, केवल शुद्ध वर्तमान कालगत वस्तु स्वरूप है, उसको अर्थ पर्याय कहते हैं। यह ऋजु सूत्र नय का विषय है। जिससे प्रवृत्ति एव निवृत्ति के लिए कारणभूत जल आहरण आदि प्रयोजन साधक क्रिया हो सके, उसको व्यञ्जन अथवा व्यक्ति कहते हैं और इससे युक्त जो पर्याय उसको व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। जैसे मिट्टी के स्थास, कोश, कुसूल, घट तथा कपाल आदि रूप व्यञ्जन पर्याय हैं। ये दो प्रकार की पर्याय हैं।

जो द्रव्य के समस्त प्रदेशों में रहते हैं, तथा जिनका अनुवर्तन समस्त पर्यायों में होता है, उनको गुण कहा जाता है। जैसे वस्तुत्व, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि। वस्तुत्व आदि गुण मिट्टी के समस्त प्रदेशों में रहते हैं, और पिण्ड आदि उत्तरोत्तर पर्यायों में, उनका अनुगमन भी होता है। अतः इनको गुण कहते हैं। परन्तु पिण्ड आदि पर्यायों का स्थास आदि पर्यायों में ऐसा अन्वय नहीं होता। अतः इनको गुण नहीं कह सकते हैं। अतः गुण और पर्यायों में परस्पर भेद है। गुण दो प्रकार के होते हैं—सामान्य गुण और विशेष गुण।

गुण और पर्याय का आधार द्रव्य भी दो प्रकार का है—जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। द्रव्य का अर्थ है—सत्। सत् लक्षण इस प्रकार है—"उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्।" अर्थात् जिसमें उत्पति, विनाश और ध्रुवत्व—ये तीनों एक साथ एक में रहें, वह द्रव्य है, वह सत् है। जैसे कि स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले पुण्य कर्म का उदय होने पर जीव द्रव्य में, मनुष्य भव का व्यय और देव भव का उत्पाद तथा चेतन भाव का ध्रुवत्व भी बना रहता है।

इसी प्रकार अजीव द्रव्य में भी समझ लेना चाहिए। जैसे मिट्टी रूप में पिण्ड रूप का व्यय होता है, घट रूप का उत्पाद होता है, और मिट्टी के स्वरूप का ध्रौव्य है। अतः अजीव द्रव्य में भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ये तीनों होते हैं। द्रव्य के दो भेद संक्षेप में कहे हैं।

जैन दर्शन वस्तु मात्र को अनेकान्तात्मक मानता है। वस्तु कभी एकान्त रूप नहीं होती है। एकान्तवाद मिथ्या होता है, और अनेकांतवाद सम्यक् होता है। यह अनेकान्तात्मक वस्तु ही प्रमाण का विषय है। इसका परिज्ञान, प्रमाण से होता है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3

अध्यात्म प्रवचन : एक संदर्शन (तृतीय भाग)

भारतीय धर्म, दर्शन के गंभीर चिन्तक सत्य के स्पष्ट विवेचक एवं निर्भीक उद्घोषक, प्रज्ञा महर्षि **राष्ट्रसन्त उपाध्याय श्री अमर मुनि** का नाम, आज समस्त अध्यात्म जगत में एक जागृत प्रज्ञाशीलता का पर्याय है। प्रत्येक दिशा में उन्मुक्त एवं स्वतन्त्र, तटस्थ तथा संतुलित विचार चिन्तन, जिसमें मुखरित होता है भारतीय मनीषा का मूलस्वर, दर्शन का आलोक और धर्म का अमृत-चिन्तन।

गुरुदेव श्री अमर मुनि, स्थानकवासी जैन श्रमण के परिवेश में समग्र जैनत्व के प्रतीक हैं। सम्प्रदाय और रूढ़िवाद की संकीर्णता से सर्वथा मुक्त; महावीर के अनन्त सत्य का समग्रता के साथ दर्शन, प्रवचन एवं प्रस्थापना करने में सक्षम, वागूदेवता के वरदपुत्र, महावीर के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी महान् मनीषी हैं।

आपश्री के अध्यात्म विषयक प्रवचनों का एक विराट संस्करण "अध्यात्म प्रवचन" भाग १, लगभग २५ वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। उसमें मुख्यतः दर्शन का स्पर्श करने वाले गूढ़ अध्यात्म विषयों पर बहुत ही सुन्दर, सन्तुलित और हृदयस्पर्शी प्रवचन हैं।

अध्यात्म प्रवचन (भाग २) में ज्ञान एवं आचार के गहन तथ्यों को उद्घाटित करने वाले, तत्वचिन्तन प्रधान जीवनस्पर्शी तत्वों का विशद विवेचन हुआ है। ज्ञान-मीमांसा के अन्तर्गत प्रमाण, नय, आदि का तथा आचार-मीमांसा में श्रावक की आचार-मर्यादा, आदर्श जीवन शैली पर नई दृष्टि से चिन्तन किया गया है।

प्रस्तुत तृतीय भाग में भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन, कर्मतत्त्व, षड्द्रव्य, आदि तत्त्वों पर बहुत ही व्यापक एवं तुलनात्मक विवेचन चिन्तन है।

इस प्रवचन संग्रह का सम्पादन किया है आपके ही विद्वान् शिष्य श्री **विजय मुनि जी शास्त्री** ने। श्री विजय मुनि जी एक बहुश्रुत चिन्तक तो है हीं, प्रवचन एवं लेखनकला के क्षेत्र में स्वतः प्रतिष्ठापन्न हैं। अब तक ५० से अधिक पुस्तकों का सम्पादन/लेखन कर चुके हैं।

प्राप्ति स्थान–

- सन्मति ज्ञान पीठ, जैन भवन, लोहामंडी, आगरा-282002
- वीरायतन, राजगिर, 403116 जिला, नालन्दा (बिहार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org